6. संरचना, स्तरीकरण और प्रक्रियाएँ

सामाजिक संरचना

विश्व में प्रत्येक भौतिक वस्तु की एक संरचना होती हैं जो कई इकाइयों या तत्वों से मिलकर बनी होती हैं। ये इकाइयाँ परस्पर व्यवस्थित रूप से संबंधित होती हैं तथा इन इकाइयों में स्थिरता पाई जाती हैं। मानव शरीर की संरचना हाथ, पाँव, नाक, आँख, मुँह इत्यादि कई अंगों अथवा इकाइयों से मिलकर हुई होती हैं। उसी प्रकार से समाज की भी संरचना होती हैं। इस संरचना का संबंध बाह्य आकृति व स्वरूप से होता हैं। संरचना एक जटिल समग्र होती है जिसमें अनेक इकाइयां एक दूसरे से अर्थपूर्ण रूप से संबंधित होती हैं। ये इकाइयां एक दूसरे पर परस्पर निर्भर होती हैं। इनमें संबंध स्थायी और व्यवस्थित होते हैं। जब सभी इकाइयां विशेष क्रम में परस्पर व्यवस्थित होती हैं तो वे एक जटिल समग्र बनाती हैं, उसे ही संरचना कहते हैं। अगर कहीं ईंट, चूना पत्थर, सीमेंट, लोहा व लकड़ी आदि इकट्ठा कर दिया जाये तो वह मकान नहीं कहलायेगा। यदि इसी सम्पूर्ण सामग्री को क्रमबद्ध व परस्पर व्यवस्थित कर दिया जाये तो मकान की संरचना निर्मित हो जायेगी। अतः स्पष्ट हैं कि जिस प्रकार शरीर, मकान अथवा किसी भौतिक वस्तु की संरचना होती हैं, उसी प्रकार से समाज की भी एक संरचना होती हैं जिसे हम सामाजिक संरचना कहते हैं। सामाजिक संरचना विभिन्न इकाइयों जैसे परिवार, संस्थाएँ, प्रतिमान, मूल्य, विश्वास एवं पदों आदि से मिलकर बनी होती हैं। 19 वीं शताब्दी में सर्वप्रथम हर्बर्ट स्पेन्सर ने समाजशास्त्र संरचना का प्रयोग किया था। समाजशास्त्र में यह शब्द प्राणीशास्त्र से ग्रहण किया गया।

सामाजिक संरचना का अर्थ एवं परिभाषा

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक संरचना को अलग–अलग दृष्टिकोण से परिभाषित किया हैं उनमें से प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं–

रैडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, ''सामाजिक, संरचना के अंग या भाग मनुष्य ही हैं और स्वयं संरचना द्वारा परिभाषित और नियमित संबंधों में लगे हुए व्यक्तियों की एक क्रमबद्धता हैं।'' ब्राउन के अनुसार हम व्यक्तियों का अध्ययन संरचना के संदर्भ में ही कर सकते हैं। व्यक्ति परस्पर सामाजिक संबंधों द्वारा बंधें हुए होते हैं। इन संबंधों द्वारा ही संरचना का निर्माण होता हैं।

पारसन्स के अनुसार, ''सामाजिक संरचना परस्पर संबंधित संस्थाओं, एजेन्सियों और सामाजिक प्रतिमानों तथा साथ ही साथ समूह के प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किये गये पदों तथा कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता को कहते हैं।'' पारसन्स द्वारा दी गई परिभाषा में मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं– (1) सामाजिक संरचना का निर्माण अनेक इकाइयों जैसे व्यक्तियों के पद, भूमिकाओं, संस्थाओं, प्रतिमानों आदि द्वारा होता हैं। (2) इन इकाइयों में परस्पर अर्थ पूर्ण संबंध होते हैं। (3) सामाजिक संरचना की इकाइयों में क्रमबद्धता पायी जाती हैं तथा ये व्यवस्थित होती हैं। (4) सामाजिक संरचना अमूर्त धारणा हैं, क्योंकि इसका निर्माण अमूर्त पक्षों जैसे सामाजिक संबंधों, संस्थाओं, प्रतिमानों, पदों व भूमिकाओं द्वारा होता हैं।

कोजर एवं रोजनबर्ग के शब्दों में, ''संरचना का तात्पर्य सामाजिक इकाइयों के तुलनात्मक स्थिर एवं प्रतिमानित संबंधों से हैं।'' इस परिभाषा में यह स्पष्ट किया गया हैं कि सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक इकाइयों जैसे समूह, संस्थाओं, पद, भूमिकाओं आदि से होता हैं। ये इकाइयां व्यवस्थित और तुलनात्मक रूप से स्थायी होती हैं।

सामाजिक संरचना की विशेषताएँ

सामजिक संरचना प्रायः प्रत्येक समाज की अलग–अलग होती हैं। इसका कारण यह हैं कि प्रत्येक समाज का निर्माण कराने वाली इकाइयां अथवा उसके संरचनात्मक अंग अलग–अलग प्रकृति एवं स्वरूप लिये हुए होते हैं। सामाजिक संरचना की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. अमूर्तता– मैकाइवर एवं पेज और पारसन्स ने सामाजिक संरचना को अमूर्त माना हैं। उनका मत हैं कि सामाजिक संरचना का निर्माण जिन संस्थाओं, एजेन्सियों, प्रतिमानों, प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं से मिलकर होता हैं, वे सभी अमूर्त इकाइयाँ हैं। अतः सामाजिक संरचना भी अमूर्त होती हैं।

2. बाह्य स्वरूप का ज्ञान कराना– सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों एवं समितियों की क्रमबद्ध व्यवस्था से होता हैं। समाज का निर्माण करने वाली विभिन्न इकाइयाँ भी क्रमबद्ध रूप से जुड़ने पर बाह्य ढांचे का निर्माण करती हैं जिसे सामाजिक संरचना कहते हैं।

3. सामाजिक संरचना अखण्ड व्यवस्था नहीं हैं– सामाजिक संरचना अखण्ड व्यवस्था नहीं हैं। इसका निर्माण कई इकाइयों से होता हैं। ये इकाइयाँ व्यक्ति, समूह, संस्था, समितियाँ आदि हो सकती हैं। प्रत्येक संरचना के कई खंड होते हैं, जिनसे इसका निर्माण होता हैं।

4. सामाजिक संरचना की इकाइयों में क्रमबद्धता पाई जाती हैं– क्रमबद्धता के अभाव में संरचना का निर्माण संभव है अर्थात समाजिक सरंचना का निर्माण संभव नहीं है। जैसे सिलाई मशीन के समस्त कल पुर्जे अलग–अलग पड़े होने पर सिलाई मशीन नहीं कहलाती है। उसे सिलाई मशीन कहलाने हेतु पुर्जो को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप से जोडना आवश्यक होता हैं।

5. सामजिक सरंचना स्थायी व गतिशील अवधारणा है– सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत एक स्थायी

अवधारणा है अर्थात सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाईयां अपेक्षाकृत स्थायी होती है। इनमें स्थायित्व दो प्रकार से पाया जाता है:–प्रथम इकाइयाँ स्वयं स्थायी होती है तथा द्वितीय, इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी स्थिरता पायी जाती हैं। दूसरी ओर मैकाइवर एवं पेज ने समाज और सामाजिक संरचना को गतिशील कहा हैं किन्तु उसमें परिवर्तन बहुत धीरे–धीरे होते हैं। थोड़े बहुत परिवर्तनों से सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में कोई प्रभाव नहीं पडता हैं।

6. उपसंरचनाओं से सामजिक संरचना का निर्माण– सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न उपसंरचनाओं जैसे परिवार, जाति, वर्ग शिक्षण संस्था, आर्थिक संस्था, धार्मिक संस्था आदि के द्वारा होता हैं, जिनकी स्वयं की अपनी संरचना होती हैं। इस प्रकार अनेक उपसंरचनाएँ मिलकर सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं जिनकी अपनी भी एक संरचना होती हैं।

7. प्रत्येक सामाजिक संरचना में सामाजिक प्रक्रियाएँ भी महत्वपूर्ण होती हैं– सामाजिक संरचना के निर्माण में सहयोगी एवं असहयोगी प्रक्रियाओं जैसे सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, एकीकरण, प्रतिस्पर्धा एवं सहयोग आदि की भूमिका भी महत्वपूर्ण हैं। ये सामाजिक प्रक्रिया ही सामाजिक संरचना के स्वरूप को निर्धारित करती हैं।

8. सामाजिक संरचनाएँ स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित होती हैं– प्रत्येक समाज की अपनी अलग विशेषताएँ होती हैं। भौगोलिक परिस्थितियों, संस्कृति एवं राजनैतिक परिस्थितियें में अन्तर पाया जाता हैं। अतः सामाजिक संरचनाएँ भी इनसे प्रभावित होने के कारण भिन्न–भिन्न होती हैं।

9. प्रत्येक इकाई का पूर्व निश्चित स्थान होता है– सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई का पद एवं स्थान निर्धारित होता हैं। उस स्थान पर रहकर ही वह सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं। इकाइयों का स्थान बदलने से उनकी संरचना का रूप विकृत हो जाता हैं। अतः सामाजिक संरचना राज्य, धर्म, परिवार, विवाह, न्याय व्यवस्था, शिक्षण संस्था आदि सभी का स्थान पूर्व निर्धारित होता है।

सामाजिक संरचना की उपर्युक्त विशेषताओं से सामाजिक संरचना का अर्थ और स्पष्ट हो जाता हैं। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक सरंचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों या तत्वों से मिलकर हुआ हैं जो परस्पर व्यवस्थित रूप से संबंधित हों। अतः जिस प्रकार से किसी शरीर या भौतिक वस्तु की सरंचना होती हैं, ठीक उसी प्रकार से समाज की भी एक संरचना होती हैं, जिसे हम सामाजिक सरंचना कहते हैं।

जॉनसन ने सामाजिक सरंचना के अग्रांकित प्रमुख तत्व बतलाये हैं–

1. विभिन्न प्रकार के उपसमूह– सामाजिक संरचना का निर्माण कई प्रकार के उपसमूहों द्वारा होता हैं जो परस्पर संबंधात्मक मानदण्डों द्वारा जुड़े होते हैं। समाज में विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ धारण करने वाले इन उपसमूहों में संगठित रहते हैं। इनका सामाजिक संरचना में महत्वपूर्ण स्थान होता हैं।

2. विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ– इन विभिन्न प्रकार के उपसमूहों में विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ होती हैं, जो सापेक्ष दृष्टि से स्थायी होती हैं। भूमिकाएँ भूमिकाधारियों से अधिक स्थाई होती हैं।

3. सांस्कृतिक मूल्य– सामाजिक संरचना में संबंधात्मक एवं नियामक मानदंडों के अतिरिक्त सांस्कृतिक मूल्य भी होते हैं, जिनके आधार पर वस्तुओं की तुलना की जाती हैं। ये सांस्कृतिक मूल्य प्रत्येक संस्कृति में अलग–अलग होते हैं। मूल्यों के आधार पर ही भावनाओं, विचारों, लक्ष्यों, साधनों, संबंधों, समूहों, पदार्थों एवं गुणों का मूल्यांकन किया जाता हैं। जीवन के विभिन्न पक्षों व क्षेत्रों के अनुसार मूल्य भी अलग–अलग होते हैं।

4. नियामक प्रतिमान– उपसमूहों तथा भूमिकाओं को परिभाषित, नियंत्रित एवं निर्देशित करने के लिए नियामक प्रतिमान होते हैं। ये मानदंड ही भूमिकाओं के पारस्परिक संबंधों एवं प्रणालियों के संबंधों को भी निर्धारित करते हैं। इन्हीं के फलस्वरूप सामाजिक अन्तः क्रिया में स्थायित्व एवं नियमितता पायी जाती हैं।

जॉनसन के अनुसार उपरोक्त चार तत्त्वों में से प्रत्येक को आंशिक संरचना कह सकते हैं। किसी भी समाज की सामाजिक संरचना का अध्ययन दो स्तरों पर किया जा सकता हैं–सूक्ष्म स्तर एवं वृहद् स्तर पर यदि किसी विशिष्ट समुदाय,समूह अथवा ग्राम का अध्ययन करें तो वह सूक्ष्म स्तर कहा जायेगा जबकि किसी समाज का सम्पूर्ण अध्ययन, जैसे भारतीय समाज का तो वह वृहद् स्तर के अध्ययन के अंतर्गत आयेगा।

सामाजिक स्तरीकरण

सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था विश्व के सभी समाजों में पाई जाती है। कई समाजों में यह प्राथमिक रुप में पाई जाती है। फिर भी यह पहचानी जा सकती है। विश्व में ऐसा कोई भी समाज नहीं है जो भिन्न–भिन्न आधारों में विभक्त न हो। इसका मुख्य कारण यह है कि समाज में आयु, लिंग, आर्थिक व्यवस्था, प्रजातीय व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था, जातिगत व्यवस्था, शिक्षा, मानव की रुचियाँ आदि सभी एक दूसरे से अलग हैं। इसी कारण कोई भी समाज अपने सभी सदस्यों को समान स्तर, स्थिति या पद प्रदान नहीं कर सकता है। सभी समाजों की जनसंख्या अनेक सामाजिक समूहों में न केवल विभक्त होती है बल्कि उन समूहों में ऊँच–नीच का स्तर भी पाया जाता है। जंगली समाजों में भी

आयु, लिंग, मुखिया का पद आदि बातों के आधार पर समूह का विभाजन व ऊँच–नीच का भेदभाव देखने को मिलता है। सभ्यता व संस्कृति के विकास के साथ जब सामाजिक जीवन में जटिलताऐं आती हैं तो समाज में सामाजिक स्तरीकरण प्रणाली को प्रोत्साहन मिलता है।

उदाहरण के लिए शहरी सभ्यता, आर्थिक आधार पर पूंजीपति व मजदूर वर्ग आदि को दो भागों में बंटा हुआ माना जाता है।

इसी तरह भारत जैसे राष्ट्र में भी जाति व्यवस्था के आधार पर भारत प्राचीन काल से ही चार भागों में विभाजित माना जाता है। इसी कारण ब्राह्मण, क्षत्रियों, वेश्यों व शुद्रों में एक–दूसरे के प्रति ऊँच–नीच की भावनाऐं विद्यमान हैं। वैसे यह बात भिन्न है की कहीं पर सामाजिक स्तरीकरण प्रणाली से समाज को लाभ पहुंचता है तो कहीं हानि। इस प्रक्रिया में एक सिक्के के दो पहलू वाली बात पाई जाती है। निस्सन्देह इस व्यवस्था के आधार पर ही आर्थिक क्षेत्र में आर्थिक उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। राजनीतिक जागृति उत्पन्न की जा सकती है। सामाजिक पद का उचित निर्धारण और संघर्षो से रक्षा एकता के माध्यम से की जा सकती है। इस प्रणाली को सभ्यता और संस्कृति का भी आधार स्तंभ कहें तो अतिश्योक्ति न होगी।

सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ–

सामाजिक स्तरीकरण शब्द अंग्रेजी का Stratification का हिंदी रुपांतरण है, जिसका अभिप्रायः Strata अर्थात विभाजन से होता है। प्रत्येक समाज की जनसंख्या अनेक सामाजिक वर्गो में विभक्त रहती है। सामाजिक स्तरीकरण एक सार्वभौमिक घटना है। यह किसी न किसी रुप में प्रत्येक समाज में विद्यमान रहता है। सामाजिक स्तरीकरण का अभिप्रायः ''समान के अंतर्गत संपूर्ण जनसंख्या को विभिन्न स्थितियों, समूहों या स्तरों में विभक्त हो जाने की प्रक्रिया से है।''

परिभाषा– सामाजिक स्तरीकरण की मुख्य परिभाषाएँ निम्नानुसार हैं–

1. पी. गिसबर्ट के अनुसार– ''सामाजिक स्तरीकरण समाज का उन स्थायी समूहों अथवा श्रेणियों में विभाजन है जो कि उच्च्ता और अधीनता संबंधों में परस्पर जुड़े होते हैं।''
2. बरट्रेण्ड रसैल के अनुसार– ''सामाजिक स्तरीकरण एक प्रकार से दिये गये समाज में व्यक्तियों का विभाजन है जैसे कि उच्च वर्ग, मध्य वर्ग व निम्न वर्ग।''

सामाजिक स्तरीकरण विशेषताएँ– सामाजिक स्तरीकरण की मुख्य विशेषताएँ निम्नानुसार है–

1. कार्यो की प्रधानता– सामाजिक स्तरीकरण की प्रमुख विशेषता यह है कि इससे कार्यों को महत्व दिया जाता है।
2. सार्वभौमिकता– प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में स्तरीकरण अवश्य पाया जाता है।
3. निरंतरता– सामाजिक स्तरीकरण एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है।
4. उच्चता एवं निम्नता– सामाजिक स्तरीकरण में जो भी विभाजन समाज का होता है उसमें उच्चता और निम्नता को आधार माना जाता है।
5. स्थायित्व– समाज का विभाजन स्तरीकरण सामाजिक स्तरीकरण के आधार पर ही होता है, जिसमें स्थायित्व पाया जाता है।

सामाजिक स्तरीकरण के आधार–

1. आयु – कुछ समाजों में सामाजिक स्थिति प्रदान करने में आयु को विशेष महत्व प्रदान किया जाता है। हमारे देश में अधिक आयु के लोगों को आदर सम्मान दिया जाता है।
2. लिंग– विभिन्न समाजों में लिंगभेद के आधार पर भी स्तरीकरण पाया जाता है। यह स्तरीकरण संभवतः सबसे प्राचीन एवं एक सरल स्तरीकरण है। लिंग के आधार पर स्थिति व कार्यो का विभाजन किया जाता है। भारत में स्त्रियों का स्थान पुरुषों के स्थान से निम्न समझा जाता था।
3. संपत्ति– संपत्ति के आधार पर भी सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है। जिस व्यक्ति के पास अधिक धन होता है, उसे समाज में ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।
4. प्रजाति– प्रजाति के आधार पर भी समाज में स्तरीकरण पाया जाता है।
5. जन्म आधार पर– जन्म के आधार पर भी उच्चता व निम्नता को स्थान प्रदान किया जाता है, जाति–प्रथा इसका उदाहरण है।
6. रक्त सम्बंधों के आधार पर– रक्त संबंधों के आधार पर भी सामाजिक स्तरीकरण किया जाता है। जो व्यक्ति ऐसे पुरुषों की संतान हैं, जिन्होंने अपने सदगुणों द्वारा समाज में सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त की है, वे अपने रक्त संबंधों के कारण ही समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं तथा उनको उच्च स्थिति प्रदान की जाती है।
7. आध्यात्मिकता– समाज में जो व्यक्ति आध्यात्मिकता दृष्टि से ऊँचे उठ जाते हैं, उनका समाज में विशेष स्थान होता है। ऐसे व्यक्तियों की आयु, जाति, तथा आर्थिक स्थिति पर भी विचार नहीं किया जाता है।
8. शारीरिक एवं बौद्धिक योग्यता– समाज में व्यक्ति की स्थिति उसकी शारीरिक एवं बौद्धिक योग्यता पर भी निर्भर करती है।
9. धार्मिक योग्यता– आदिम समाजों और उन समाजों में जहाँ पर जातिगत स्तरण पाया जाता है। धार्मिक योग्यता सामाजिक स्थिति का निर्धारण करने में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

उपर्युक्त सभी सामाजिक स्तरीकरण के महत्वपूर्ण आधार हैं फिर भी हम मुख्यतः जाति, वर्ग, प्रजाति तथा लिंग का विस्तार से अध्ययन करेंगे–

जाति व्यवस्था

जाति का अर्थ एवं परिभाषाएँ

जाति अंग्रेजी के कास्ट (Caste) का हिन्दी पर्यायवाची शब्द है जो कि पुर्तगाली शब्द कास्टा (Casta) से बना है। जिसका अर्थ प्रजाति, जन्म या भेद होता है। हिन्दी का जाति शब्द संस्कृत भाषा की 'जन' धातु से बना है जिसका अर्थ उत्पन्न होना व उत्पन्न करना है। जाति शब्द का सर्वप्रथम उपयोग सन् 1563 में ग्रेसिया ड़ी ओर्टा ने किया था। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने जाति शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपों में किया है। संक्षेप में, जाति की निम्न परिभाषाएँ दी जा सकती है–

1. मैकाइवर व पेज के अनुसार, ''जब व्यक्ति की स्थिति पूर्व निश्चित होती है, अर्थात् जब व्यक्ति अपनी स्थिति में किसी भी प्रकार के परिवर्तन की आशा लेकर उत्पन्न नहीं होता, तब व्यक्ति समूह या वर्ग जाति के रूप में स्पष्ट होता है।''

2. केतकर के अनुसार, ''जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएँ है। प्रथम– जाति की सदस्यता सिर्फ उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जो कि उस जाति विशेष के सदस्यों से ही पैदा हुए है और इस प्रकार उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्ति एक जाति में आते हैं। द्वितीय– जिसके सदस्य एक निश्चित सामाजिक नियम के द्वारा अपने समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिए जाते हैं।''

3. मजूमदार और मदान के अनुसार, ''जाति एक बन्द वर्ग है।''

4. एन.के. दत्ता के अनुसार, ''एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते तथा अन्य जाति के व्यक्तियों के साथ भोजन करने एवं पानी के सम्बन्ध में इसी प्रकार के कुछ कम कठोर नियम रहते हैं तथा अनेक जातियों के कुछ निश्चित व्यवसाय होते हैं। जातियों में संस्तरणात्मक श्रेणियाँ होती है। मनुष्य की जाति का निर्णय जन्म से होता है। यदि व्यक्ति नियमों का उल्लंघन करने के कारण जाति से न निकाल दिया जाए तो एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तन होना सम्भव नहीं है।''

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जाति जन्म पर आधारित वह महत्वपूर्ण समूह है जिसकी सदस्यता जन्म पर आधारित होती है। यह अपने सदस्यों के व्यवसाय, विवाह, खान–पान आदि पर कुछ निश्चित प्रतिबन्ध लगाती है। संक्षेप में, जाति समाज का ऐसा खण्डात्मक विभाजन है जो कि आनुवंशिकता पर आधारित रहकर अपने सदस्यों के व्यवसाय, खान–पान व विवाह पर निश्चित स्थिति में रोक लगाती है।

जाति की विशेषताएँ

भिन्न–भिन्न विद्वानों ने जाति की विशेषताओं को अपने–अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया। जिसमें ए. के. दत्ता, किंग्सले डेविस व घूर्ये मुख्य हैं। ए.के. दत्ता ने जाति की निम्नांकित विशेषताओं को स्पष्ट किया है–

1. जाति का कोई भी सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकता।
2. प्रत्येक जाति में भोजन और खान–पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध अवश्य होते हैं।
3. जाति के पेशे प्रायः निश्चित होते हैं।
4. सभी जातियों व उपजातियों में ऊँच–नीच का एक संस्तरण पाया जाता है जिसमें ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च रहता है।
5. जन्म के साथ ही जाति की सदस्यता व्यक्ति को जीवनपर्यन्त के लिए प्राप्त हो जाती है, किन्तु जातीय नियमों के विपरीत कृत्यों को करने से उसकी सदस्यता समाप्त भी की जा सकती है।

घूर्ये ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति, 'जाति, वर्ग, व्यवसाय' में जाति की निम्न विशेषताओं को स्पष्ट किया है–

1. समाज का खण्डीय विभाजन– जाति व्यवस्था समाज को विभिन्न खण्डों या भागों में विभक्त कर देती है तथा प्रत्येक खण्ड या भाग अनेक उपखण्डों या उपभागों में विभक्त हो जाता हैं तथा प्रत्येक खण्ड व उपखण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद, कार्य आदि निश्चित रहते हैं। जिससे व्यक्तियों की निष्ठा, प्रेम व सहानुभूति अन्य जाति की अपेक्षा अपनी जाति में अधिक होती है। अतः स्पष्ट है कि सम्पूर्ण समाज विभिन्न खण्डों व उपखण्डों में विभक्त हो जाता है।

2. संस्तरण– जाति व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियों में एक संस्तरण या ऊँच–नीच के क्रम अथवा उतार–चढ़ाव के क्रम देखने को मिलते हैं। संस्तरण में परिवर्तन धन, सम्पत्ति या प्रतिष्ठा के आधार पर सम्भव नहीं होता, क्योंकि जाति एक बन्द वर्ग का रूप है।

3. भोजन व सहवास पर प्रतिबन्ध– जाति व्यवस्था की यह एक विशिष्ट विशेषता है। प्रत्येक जाति का ऐसा नियम होता है कि दूसरी जाति के सदस्यों के हाथ का बना भोजन निषिद्ध रहता है।

4. नागरिक व धार्मिक निर्योग्यताएँ और प्रतिबन्ध– घूर्ये के अनुसार तत्कालीन समय में ब्राह्मणों को तथाकथित उच्च मानते हुए सर्वाधिकार प्रदान किए और दलितों पर धार्मिक निर्योग्यताएँ लादी गई

5. व्यवसाय के चयन का अभाव– जाति व्यवस्था में प्रत्येक जाति के व्यवसाय या पेशे पूर्व निर्धारित या परम्परागत होते थे तथा इनमें परिवर्तन करने का अधिकार किसी को भी नहीं दिया जाता था। समाज अपने सदस्यों से आशा करता था कि वे जाति व्यवस्था द्वारा निर्धारित व्यवसाय

या पेशों को ही करे, जिससे समाज की व्यवस्था में किसी प्रकार का व्यवधान न आए।

6. विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध– प्रत्येक जाति में इस नियम का कठोरता से पालन किया जाता है कि इसके सदस्य अपनी ही जाति में विवाह सम्बन्ध स्थापित करे। इस रूप में जाति अन्तर्विवाही समूह का प्रतिनिधित्व करती है। विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध सभी जातियों में चाहे वह उच्च जाति हो या निम्न, निश्चित रूप से पाया जाता है।

उपरोक्त विशेषताएँ जाति की परम्परागत विशिष्टताएँ हैं, क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में परिवर्तित होती जाति व्यवस्था के कारण इसकी विशेषताएँ भी बदल रही है। अतः आवश्यक है कि समाजशास्त्रियों को जाति व्यवस्था पर पुनः सूक्ष्म अध्ययन व विश्लेषण करना चाहिए। उदाहरण के लिए आधुनिक समय में समाज के सभी नागरिकों, चाहे वे किसी भी जाति के सदस्य क्यों न हो, उन्हें समान अधिकार है। वे अपनी इच्छा एवं स्वेच्छा अनुसार व्यवसाय का चयन कर सकते हैं और कर भी रहे हैं। निम्न जाति के सैकड़ों व्यक्ति आज उच्च पदों पर कार्यरत है। इसी प्रकार बहुत से उच्च वर्ग या जाति के सदस्यों ने भी अपना व्यवसाय व पेशा बदल लिया है। विवाह सम्बन्ध भी कमजोर होते जा रहे हैं। प्रतिवर्ष प्रेम–विवाह एवं अन्तर्जातीय विवाहों की बढ़ती संख्या स्पष्ट करती है कि विवाह सम्बन्धी जातीय प्रतिबन्ध टूटते जा रहे हैं। किन्तु घुर्ये द्वारा प्रस्तुत जाति की विशेषताएँ ग्रामीण अंचलों में आज भी दिखाई देती है। किन्तु नगरीय क्षेत्रों में तो जाति व्यवस्था परिवर्तन के पथ पर चली पड़ी है।

जाति के कार्य/गुण

वर्तमान समय में जाति व्यवस्था की कितनी ही आलोचना क्यों न की जाए, किन्तु इसने भारतीय समाज को संगठित रखकर व्यवस्थित रूप से व्यक्ति के पद एवं कार्यों को सुनिश्चित किया है। जाति व्यवस्था ने हमारे समाज को जितनी लम्बी अवधि तक प्रभावपूर्ण ढंग से नियन्त्रित रखा, वैसी अन्य कोई व्यवस्था नहीं कर सकी। जाति व्यवस्था ने व्यक्ति और समाज के लिए इतने महत्वपूर्ण कार्य किए हैं जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता।

संक्षेप में, जाति के कार्यों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–1. व्यक्तिगत जीवन में जाति के कार्य, 2. जातीय समुदाय के लिए जाति के कार्य, 3. सामाजिक जीवन में जाति के कार्य।

1. जाति के कार्य गुण

1. व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण– जाति प्रथा के कारण व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण जन्म से ही हो जाता है। जाति के कार्यों की समीक्षा करते हुए जे.एच. हट्टन ने लिखा है कि "जाति व्यवस्था व्यक्ति को उसके जन्म से ही निश्चित सामाजिक स्थिति प्रदान करती है, जिसमें निर्धनता, सम्पत्ति तथा सामाजिक क्षेत्र में सफलता, असफलता कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकती है।

2. व्यवसाय का निर्धारण– व्यक्ति के जन्म से ही व्यवसाय का निर्धारण जाति व्यवस्था के कारण हो जाता है जिससे वह व्यर्थ की प्रतियोगिता से सिर्फ बच ही नहीं जाता बल्कि चिन्तामुक्त भी रहता है। जन्म से ही उसे पैतृक व्यवसाय से सम्बन्धित ज्ञान मिलता प्रारम्भ हो जाता है जिससे परिपक्वता आने तक वह उस व्यवसाय में दक्षता प्राप्त कर लेता है।

3. मानसिक रूप से सुरक्षित– जाति व्यवस्था के कारण ही व्यक्ति अपने आपको मानसिक रूप से सुरक्षित समझता है। मानसिक सुरक्षा में स्थिरता तब ही आती है जब व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन शनैः शनैः आते हो। जाति व्यवस्था के कारण व्यक्ति के जीवन में सब कुछ पूर्व नियोजित रहता है जिससे उसे व्यर्थ के कष्ट नहीं उठाना पड़ते हैं। यदि व्यक्ति के जीवन में बार–बार उतार–चढाव आता है तो वह व्यक्ति मानसिक रूप से कभी सुरक्षित नहीं रह सकेगा। जाति व्यवस्था उसे मानसिक सुरक्षा उपलब्ध कराती है।

4. जीवनसाथी के चुनाव में सहायक– जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति के अपने नियम हैं जिनका पालन करना प्रत्येक सदस्य का परम कर्तव्य है। विवाह के सम्बन्ध में भी प्रत्येक जाति के अपने नियम हैं जो व्यक्ति को जीवन साथी चुनने में सहायता करते हैं।

5. सामाजिक सुरक्षा– जाति व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध कराती है। यदि जाति का कोई सदस्य कभी किसी संकट में फँस जाता है तो जाति उसको आवश्यक सुविधा तो उपलब्ध कराती ही है उसे संकट से उबरने का तरीका भी बताती है जिससे व्यक्ति उस संकट से दूर ही रहे।

6. व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण– जाति व्यवस्था के कारण ही व्यक्ति के व्यवहार नियन्त्रित रहते हैं। प्रत्येक जाति के अपने नियम है जिनका पालन करना प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है। यदि कोई व्यक्ति इन नियमों को तोड़ने का प्रयास करता है तो वह जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है, जिसके कारण सम्पूर्ण हिन्दू समाज में वह स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति इन नियमों का उल्लंघन नहीं करता है जिसके कारण उसके व्यवहार सदैव नियन्त्रित रहते हैं।

उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त भी जाति व्यवस्था ने समाज के हित में कई कार्य किए, जैसे, आवश्यक प्रशिक्षण व कार्यकुशलता बनाए रखी। जाति व्यवस्था ने समाजवादी व्यवस्था की कल्पना को साकार रूप प्रदान किया।

जाति व्यवस्था के अकार्य, अवगुण अथवा दोष

यद्यपि जाति व्यवस्था व्यक्ति, समुदाय तथा समाज की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी व्यवस्था है, परन्तु समय और परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ–साथ जाति प्रथा के स्वरूप में अनेक परिवर्तन आ गये हैं तथा इसके अनेक दोष भी उभर कर सामने आने लगे है। इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित है–

1. अप्रजातांत्रिक– जाति व्यवस्था पूर्णतया अप्रजातांत्रिक है। यह व्यवस्था समानता की भावनाओं पर कुठाराघात करती है तथा इसने समाज में ऊँच–नीच की भावनाओं को जन्म दिया है। प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति करने का समान अधिकार होता है, परन्तु जाति प्रथा द्वारा निम्न जातियों के सदस्यों को इस अधिकार से युगों तक वंचित रखा गया। असमानता को महत्व देने वाली जाति प्रथा अप्रजातांत्रिक है।

2. श्रमिकों की गतिशीलता में बाधक– जाति व्यवस्था वंशानुगत या परम्परागत व्यवसाय करने पर बल देती है और व्यक्ति को किसी अन्य व्यवसाय का चयन करने से रोकती है। अतः व्यक्ति अपने जातिगत व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय नहीं कर पाता, चाहे उसमें उस व्यवसाय को करने की क्षमता है या उससे लाभ होता है।

3. सामाजिक प्रगति में बाधक– जाति प्रथा सामाजिक प्रगति में सदा बाधक रही है। जाति के सदस्यों को सदा जाति बहिष्कार का भय लगा रहता है अतः वे अपने परम्परागत दृष्टिकोण का परित्याग नहीं करते और न ही किसी अन्य समाज की अच्छाई को ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं। इसके अतिरिक्त कार्य जन्म से निश्चित हो जाने के कारण सारे समाज की क्रिया स्थिर हो जाती है। किसी भी प्रकार के सामाजिक या भौतिक आविष्कार का विचार मन में नहीं उठता। वास्तव में रूढ़िवादिता और स्थिरता जातिवाद का ही परिणाम है। ऐसी दशा में किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विचार नहीं पनप पाता। परिवर्तन के बिना प्रगति की आशा करना ही व्यर्थ है।

4. सांस्कृतिक विकास में बाधक– जाति सांस्कृतिक विकास में एक बाधा का कार्य करती है। इसके अंदर विभाजन और ऊँच–नीच की भावना रहने के कारण सांस्कृतिक एकता का अभाव बना रहता है। भेदभाव के कारण प्रत्येक समूह एक–दूसरे से दूर रहता है और उनमें परस्पर मिलकर सांस्कृतिक प्रगति करने की भावना नहीं उत्पन्न हो पाती। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जाति एक प्रकार से पृथक जाति समूह के रूप में कार्य करती है अतः उसके सदस्य अपनी रूढ़िग्रस्त सांस्कृतिक परम्पराओं से ही जुड़े रहते हैं और उनमें परिवर्तन पसंद नहीं करते।

5. व्यक्तित्व के विकास में बाधक– सभी व्यक्तियों की शारीरिक–मानसिक क्षमताएँ समान नहीं होती। अतः समाज का हित इसी में है कि व्यक्तिगत–क्षमता के आधार पर ही कार्यों का विभाजन किया जाये। जाति व्यवस्था में इस सिद्धांत की पूर्ण अवहेलना की जाती है। इसमें केवल व्यवसायों का ही नहीं बल्कि उत्तरदायित्वों तथा अधिकारों का बँटवारा भी व्यक्तिगत क्षमता के आधार पर न होकर जन्म के आधार पर होता है। व्यक्ति को अपनी क्षमताओं का स्वतंत्र रूप से विकास करने का अवसर नहीं मिलता।

6. सामाजिक समानता में बाधक– जाति व्यवस्था ने मनुष्य और मनुष्य के बीच जाति व्यवस्था के तथाकथित उच्च–निम्न के संस्तरणों को लादकर सामाजिक समानता के भाव को ठेस पहुँचाई है।

7. आर्थिक विकास में बाधक– जाति व्यवस्था के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने परम्परागत व्यवसाय को करने की ही अनुमति मिलती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अनेक लाभपूर्ण पेशों से वंचित रह जाता है। दूसरी ओर अनेक लाभप्रद पेशे व्यक्ति की योग्यता और अयोग्यता को देखे बिना ही कुछ विशेष जाति के सदस्यों को प्राप्त हो जाते हैं। इस तरह के विभाजन से कार्य ही कम नहीं होता, वरन् धीरे–धीरे व्यक्ति की कार्यक्षमता भी कम हो जाती है तथा समाज में धन का वितरण असमान हो जाता है। जाति व्यवस्था ने पवित्रता का क्षेत्र इतना संकुचित कर दिया है कि व्यक्ति अनेक प्रकार का उत्पादन कार्य करने से ही नहीं बचते बल्कि कृषि में अनेक रासायनिक खादों का प्रयोग करने को भी अपवित्र समझ लेते हैं।

8. राष्ट्रीय एकता में बाधक– जाति व्यवस्था जहाँ छोटे–छोटे समुदायों की एकता में योग देती हैं वहाँ यह राष्ट्र की एकता में सहायक नहीं है। जब सम्पूर्ण देश या राष्ट्र की एकता का प्रश्न आता है तो व्यक्ति अपने–अपने जातीय समुदायों के हित को सर्वोपरि मानते हुए उसी के बारे में सोचते–विचारते हैं। इस प्रकार इन छोटे–छोटे समुदायों से अलग–अलग वातावरण देखने को मिलता है और जातीय सदस्य अपना कर्तव्य इन छोटे समुदायों तक ही सीमित रखते हैं। व्यक्तियों का यह दृष्टिकोण राष्ट्र में अनेक भ्रामक बातों व समस्याओं को जन्म देती है, जो राष्ट्र की एकता के स्थान पर विघटन की ओर ले जाता है। सच तो यह है कि विभिन्न जातियों, उपजातियों में पायी जाने वाली सामाजिक दूरी (Social distance) सम्पूर्ण राष्ट्र में समानता की भावना को विकसित करने में असफल रहती है, परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एकता की बात यों ही रह जाती है।

9. धर्म परिवर्तन–भारत में तत्कालीन समय मे ंहिन्दू ध र्म में व्याप्त कठोरता के कारण लाखों हिन्दू स्त्री पुरुषों को ईसाई व इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तकों ने धर्म परिवर्तन करने के लिए प्रोत्साहित किया।

10. विवाह का सीमित क्षेत्र– जाति एक अन्तर्विवाही समूह है। अतः जाति व्यवस्था विवाह के क्षेत्र को सीमित करती है। अतः एक जाति के सदस्य अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप बाल विवाह, बेमेल

विवाह, विधवा विवाह, कुलीन विवाह तथा दहेज प्रथा की समस्याएँ उत्पन्न हो गई।

वर्तमान समय में बहुत सी जातियों ने अपने पैतृक व्यवसाय को छोड़ अन्य व्यवसायों को अपनाया है।

ऊपर हमने जाति प्रथा के गुण एवं दोषों को अध्ययन किया। अब प्रश्न यह है कि जाति प्रथा यदि हितकर है तो इसे स्थिर रखा जाए और यदि जाति अहितकर है तो इस समाप्त कर दिया जाए। अनेक समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों का मत है कि यह बहुमूल्य कार्य करती है अतः इस रहने देना चाहिए। इस प्रथा की हानिकारक सहयोगी प्रथाओं को समाप्त कर देना चाहिए न कि सम्पूर्ण व्यवस्था को। टूटी हुई विषपूर्ण अंगुली को काटना चाहिये, न कि पूरे हाथ को। यह जहर सम्पूर्ण समाज में फैल गया है अतः इसे समाप्त कर देना चाहिये। इस संस्था के कार्य दूसरी संस्था द्वारा भी किये जा सकते हैं।

जाति व्यवस्था के परिवर्तित प्रतिमान

आधुनिक भारत में निम्नलिखित कारकों ने जाति प्रथा में अनेक परिवर्तन कर दिये हैं–

1. कार्यक्षमता का महत्व– जाति प्रथा में व्यक्ति की स्थिति जाति के आधार पर निर्धारित होती है। उच्च जाति के लोगों की समाज में उच्च स्थिति और निम्न जाति के लोगों की समाज में निम्न स्थिति थी, किन्तु आज जातिगत संरचना में परिवर्तन हो रहा है। आज व्यक्ति की योग्यता, कुशलता तथा उसकी कार्यक्षमता के आधार पर ही उसकी सामाजिक स्थिति का निर्धारण किया जाता है।

2. व्यावसायिक परिवर्तन– प्राचीनकाल से ही एक जाति के सदस्य अपनी जाति के परम्परागत पेशों को करते थे किन्तु आज औद्योगीकरण के कारण ग्रामीण समुदाय के लोग नगरों या औद्योगिक केंद्रों में पहुँचकर विभिन्न प्रकार के व्यवसाय कर रहे हैं।

3. स्थिति के निर्धारण में परिवर्तन– भारत की जाति व्यवस्था में तथाकथित ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च मानी जाती थी। परन्तु वर्तमान में जातिगत भेद से कहीं ऊपर व्यक्ति की कार्यकुशलता और कार्यक्षमता का महत्व बढ़ गया है।

4. अस्पृश्यता की समाप्ति– छुआछूत, भेदभाव अर्थात् अस्पृश्यता जाति प्रथा के मेरूदण्ड थे, किन्तु आज पश्चिमी संस्कृति व शिक्षा के कारण ग्रामीण समुदाय का दृष्टिकोण विस्तृत हो गया है। अतएव निम्न जातियों की सभी निर्योगयताएँ समाप्त हो गई है।

5. विवाह के क्षेत्र में परिवर्तन– कुछ जातियों में बाल विवाह का प्रचलन था और लड़के व लड़की की राय विवाह के समय नहीं ली जाती थी किन्तु आज विवाह के क्षेत्र में भी परिवर्तन हो गये है। बाल विवाह के स्थान पर विलम्ब विवाह होने लगे। विवाह के समय लड़के की आयु 21 वर्ष तथा लड़की की आयु 18 वर्ष होना अनिवार्य माना गया है। विवाह के समय लड़के तथा लड़की की राय भी जानी जाती है। इसके अतिरिक्त प्रेम विवाह या कोर्ट मैरिज भी होने लगे जिनमें माता–पिता की राय की भी आवश्यकता नहीं होती है।

6. खानपान संबन्धी प्रतिबन्धों का पतन– पहले जाति प्रथा में एक उच्च जाति का व्यक्ति निम्न जाति के सदस्य के साथ भोजन,खान–पान के संबंध नहीं जोड सकता था, किन्तु आज के युग में स्थिति बदल गई है। आज औद्योगीकरण के कारण कारखाने में सभी जातियो के लोग एकसाथ बैठकर खान–पान करते हैं। रेलों में, बसों में, हवाई जहाजों में सभी जाति के लोग एक साथ मिलकर बैठते हैं। अब होटलों में भोजन करते हैं। अब जाति– पाँती के सभी प्रतिमानों की शिथिलता व्यापक होती जा रही है।

7. शिक्षा में परिवर्तन– जाति व्यवस्था को कमजोर बनाने में वर्तमान शिक्षा का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। आज की भारतीय शिक्षा स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व भावना पर अधिक बल देती है, छुआछूत तथा ऊँच–नीच की भावना का उन्मूलन करती है। इसके अतिरिक्त भारतीय शिक्षा पर पाश्चात्य देशों में प्रचलित वैज्ञानिक विचारों की छाप है, जिसके कारण भारतीय जनता के मस्तिष्क से रूढ़िवादिता समाप्त होती जा रही है। इस प्रकार ये सब बातें जाति प्रथा को कमजोर बनाती है।

8. औद्योगीकरण– औद्योगीकरण भी जाति प्रथा को निर्बल बना रहा है। औद्योगीकरण के कारण होटलों, दुकानों, सिनेमाघरों तथा अन्य स्थानों पर और कारखानों में लोगों का मिलना–जुलना, साथ–साथ खाना–पीना और बातचीत करना सम्भव हुआ और छुआछूत तथा जाति व्यवस्था पर इसका कठोर रूप से अवश्यम्भावी प्रभाव पड़ा।

9. समाज सुधार आन्दोलन– इस सम्बन्ध में समाज सुधार आंदोलन का भी प्रभाव कम नहीं रहा है। आधुनिक शिक्षा के कारण देश में समाज सुधार आंदोलन की बाढ़–सी आ गई है जिससे जाति प्रथा का धीर–धीरे उन्मूलन हो रहा है।

10. धन के महत्व में वृद्धि– आज धन ही जाति के स्थान पर सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार बनाता जा रहा है। धनी व्यक्ति कोई भी हो, उसका समाज में आदर किया जाता है। व्यवसायों का आधार भी आज जाति नहीं वरन् व्यक्तिगत योग्यता हो गया है।

11. आवागमन के साधनों का प्रभाव– आवागमन के साधनों के कारण व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने लगा है और वे मिल–जुलकर अपनी समस्याओं को आपस में सुलझाने पर जोर देने लगे है। इससे एक–दूसरे के विचारों, परम्पराओं और अन्य सामाजिक व्यवस्था के तत्वों को प्रभावित करने लगे जिससे भेदभाव की कड़ी जो समाज को विभिन्न जातियों में बॉटे रखती थी, आज टूटती जा रही है।

12. नवीन कानून– भारत में जनतंत्रीय सरकार ने

अनेक कानून बनाये। जिनके आधार पर कानून की दृष्टि में कोई भी जाति ऊँची या नीची नहीं और न जाति के आधार पर समाज या राज्य किसी के साथ पक्षपात ही कर सकता है।

13. राजनैतिक आंदोलन– राजनैतिक आंदोलन के प्रभाव का भी जाति प्रथा पर भयानक आक्रमण हुआ। गांधीजी ने अपने नेतृत्व में देश की समस्त जातियों, वर्णो और वर्गों को एक साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने के लिए ललकारा। उनकी एक ललकार पर देश का बच्चा–बच्चा उनके पीछे चल दिया और सदियों पुरानी दासता की जंजीरों को तोड़ कर टुकड़े–टुकड़े कर दिये और भारत में जनतंत्रीय सरकार की स्थापना हुई। जिससे भेदभाव के लिये (कम से कम सिद्धांत रूप में) तो कोई स्थान नहीं रहा।

14. नये सामाजिक वर्गों का उदय– भारतीय समाज में भी आज विभिन्न वर्गों का निर्माण हो चुका है और आगे होता भी जा रहा है। जैसे व्यापारी वर्ग और शिक्षक वर्ग आदि। इन वर्गों में जाति व्यवस्था पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इस प्रकार ये नवीन वर्ग भी जाति प्रथा पर कुठाराघात कर रहे हैं।

15. भारत की स्वतंत्रता– भारत की स्वतंत्रता ने भी इस विषय में महत्वपूर्ण योगदान दिया है क्योंकि स्वतंत्रता के पश्चात् किसी भी प्रकार की भेदभाव नीति का अन्त हो गया है और सरकार तथा समाज दोनों ही प्रयास कर रहे हैं कि जाति व्यवस्था का भारत से उन्मूलन हो जाए और सब समान रूप से अपना जीवन व्यतीत करे।

निष्कर्ष– जाति व्यवस्था के विरुद्ध इतनी युक्तियाँ हमने दी किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि इन्होंने भारत से जाति व्यवस्था का बिल्कुल उन्मूलन कर दिया हो। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था के प्रभाव में इसने कमी अवश्य की है, किन्तु इसका पूर्णतया उन्मूलन होना कठिन हो रहा है।

वर्ग (Class)

वर्ग को सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधार के रूप में स्वीकार किया जाता है। वर्तमान समय में प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में वर्ग–व्यवस्था अवश्य ही पाई जाती है। अनादिकाल से ही मनुष्य आयु, लिंग, व्यवसाय, धर्म, आय आदि के आधार पर वर्गों में विभक्त रहा है और समाज में स्त्री–पुरुष, शिक्षित–अशिक्षित, अमीर–गरीब, बलवान–निर्बल, शिक्षक, व्यापारी, युवा, प्रौढ़ और वृद्ध आदि वर्ग पाए जाते रहे हैं जो कि आधुनिक एवं वर्तमान युग में भी देखे जा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि वर्ग विशिष्ट सम्बन्धों वाला समूह है। सामान्य रूप में वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जिनके सदस्यों की समान सामाजिक परिस्थिति होती है।

वर्ग का अर्थ एवं परिभाषा

वर्ग का पर्यायवाची शब्द खण्ड है। सामान्य अर्थों में वर्ग का आशय समान स्थिति वाले व्यक्तियों के ऐसे समूह से होता है, जिसमें व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से एक– दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। उदाहरण के लिए शिक्षक वर्ग, विद्यार्थी वर्ग, मजदूर वर्ग, बीड़ी कामगार श्रमिक वर्ग, व्यापारी वर्ग आदि। वर्ग की विभिन्न समाज विज्ञानियों ने निम्न रूपों में परिभाषाएँ प्रस्तुत की है–

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, ''एक सामाजिक वर्ग समूह का वह भाग है जो कि सामाजिक स्थिति के आधार पर अन्य लोगों से पृथक किया जा सकता है।''

कार्ल मार्क्स ने वर्ग की अवधारणा को आर्थिक आधार पर प्रस्तुत करते हुए बताया है कि ''वर्ग किसी भी समाज का एक ऐसा तथ्य है जिसमें सम्पति और उत्पादन के साधन सामाजिक स्तरीकरण का आधार प्रस्तुत करते हैं।''

मैक्स वेबर के विचारानुसार, ''सामाजिक आर्थिक व्यवस्था एक नहीं है। आर्थिक व्यवस्था केवल वह पद्धति है, जिसमें आर्थिक वस्तुओं और सेवाओं का वितरण तथा उपभोग किया जाता है। यही प्रक्रिया वर्गों का निर्माण करती है।''

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि विभिन्न समाज विज्ञानियों ने सामाजिक वर्ग को विभिन्न आधारों– जैसे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि आधारों पर समझाने का प्रयास किया है। इसी प्रकार बिटेन व अमेरिका के आधुनिक समाज विज्ञानियों ने व्यवसाय को आधार मानकर वर्ग की अवधारणा प्रस्तुत की है, तो अन्य विद्वानों ने धर्म तथा विलासिता को आधार बनाकर वर्ग को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि वर्ग सामाजिक स्तरीकरण की एक मुक्त व्यवस्था का रूप है, जिसका आधार सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, सांस्कृतिक स्थिति, शैक्षणिक स्थिति, योग्यता आदि हो सकता है। यह समाज का वह भाग होता है जिसके सदस्यों की सामाजिक स्थितियाँ समान होती है, जिसके आधार पर इनमें सामाजिक जागरूकता पाई जाती है और समाज के अन्य वर्गों से अलग होते हैं।''

वर्ग की प्रमुख विशेषताएँ

1. सामाजिक संस्तरण– सामाजिक वर्ग सामान्यतः संस्तरणों, स्तरों या खंडों में पाए जाते हैं। जिसमें सबसे ऊँचे क्रम में उच्चतम वर्ग और उससे नीचे क्रम में निम्नतर वर्ग होते हैं। इस प्रकार समाज वर्गों में उतार–चढाव की संस्तरणात्मक व्यवस्था होती है। मार्क्सवादी विचारक पूँजीवादी समाज में पूँजीपति वर्ग व निर्धन वर्ग के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

2. वर्ग चेतना का समावेश– समाज में पाए जाने वाले विभिन्न वर्गों में चेतना पाई जाती है और वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि उनका पद एवं प्रतिष्ठा दूसरे वर्गों की अपेक्षा उच्च या निम्न है। यही वर्ग चेतना वर्ग के सदस्यों के व्यवहार का निर्धारण करने में अहम् भूमिका निभाती हैं।

3. ऊँच–नीच की भावना– विभिन्न वर्गों के सदस्यों के बीच ऊँच–नीच की भावना पाई जाती है। उदाहरण के लिए पूँजीपति वर्ग अपने को निर्धन वर्गो की अपेक्षा ऊँचा व श्रेष्ठ

मानता है। इसी प्रकार निर्धन वर्ग पूँजीपति वर्ग को देखकर अपने को कमजोर एवं हीन समझते हैं व अपने को पूंजीपति वर्ग से नीचे समझते हैं।

4. वर्ग मुक्त व्यवस्था है– वर्ग की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है। वर्ग व्यवस्था एक खुली एवं मुक्त व्यवस्था है, अर्थात् व्यक्ति अपनी स्थिति व परिस्थितियों के अनुसार किसी भी वर्ग में मिल सकता है। उदाहरण के लिए एक मजदूरी करने वाला व्यक्ति निम्न वर्ग का सदस्य होता है किन्तु उसकी लाटरी खुल जाती है तो वह उच्च वर्ग में पहुँच सकता है। अतः स्पष्ट है कि वर्ग व्यवस्था एक खुली व्यवस्था होती है जिसे व्यक्ति कभी भी बदल सकता है।

5. वर्ग में जन्म का महत्व नहीं– वर्ग व्यवस्था में व्यक्ति के जन्म का किसी भी प्रकार से महत्व नहीं होता वरन् वर्ग की सदस्यता के लिए तो व्यक्ति की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व शैक्षणिक स्थिति को आधार माना जाता है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति का जन्म अशिक्षित परिवार में हुआ किन्तु वह शिक्षा ग्रहण करके शिक्षित वर्ग की सदस्यता ले सकता है अर्थात् वर्ग में जन्म का बिल्कुल महत्व नहीं रहता।

6. वर्ग व्यवस्था अस्थिर धारणा– वर्ग की यह भी महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसकी धारणा अस्थिर होती है अर्थात् वर्ग को बनवाने वाले आधारों में परिवर्तन होता रहता है। इसी के साथ–साथ वर्ग व्यवस्था में भी परिवर्तन होते हैं। जो व्यक्ति आज अशिक्षित एवं अज्ञानी है, कुछ वर्षों में वह शिक्षित एवं ज्ञानी हो सकता है। अतः स्पष्ट है कि वर्ग का आधार ही अस्थिर है, इस कारण वर्ग भी अस्थिरता लिए रहते हैं।

7. विभिन्न वर्गों में सामाजिक दूरी– प्रत्येक वर्ग के सदस्य अपने वर्ग के सदस्यों से ही घनिष्ठ व नजदीकी सम्बन्ध बनाए रखते हैं तथा अपने वर्ग के प्रति ही प्रेम, सहयोग व सहानुभूति की भावना रखते हैं और दूसरे वर्ग के सदस्यों से औपचारिक व दूरी के सम्बन्ध ही रखते हैं तथा अपने उत्सवों, त्यौहारों व शादी विवाह में प्रत्येक वर्ग अपने वर्ग अपने वर्ग के ही सदस्यों को बुलाता है, व सम्पर्क रखता है। संक्षेप में, विभिन्न वर्गों के मध्य सामाजिक दूरी होती है।

8. वर्ग अर्जित प्रस्थिति पर आधारित–वर्ग व्यवस्था अधिकांशतः अर्जित प्रस्थिति पर ही आधारित होती है। व्यक्ति अपनी योग्यता व क्षमताओं से जो स्थिति अर्जित करता है वही स्थिति उसे वर्ग विशेष की सदस्यता प्रदान कराती है।

9. परस्पर निर्भरता– समाज में पाये जाने वाले सभी वर्ग, चाहे वे किसी भी आधार पर निर्मित क्यों न हुए हो, एक–दूसरे पर निर्भर रहते हैं। सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने हेतु आवश्यक होता है कि उनमें पारस्परिक निर्भरता बनी रहे। यदि ये वर्ग पूर्णतया स्वतंत्र हो जायेंगे तो सामाजिक व्यवस्था भंग हो जायेगी। उदाहरण के लिए एक शिक्षित वर्ग के सदस्यों का सम्बन्ध पूँजीगत वर्ग, मजदूर वर्ग, अशिक्षित वर्ग, व्यापारी वर्ग, कृषक वर्ग आदि सभी से होता है और वह सभी वर्गों पर निर्भर रहता है। इसी प्रकार सभी वर्ग एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। संक्षेप में, वर्ग की एक महत्वपूर्ण विशेषता पारस्परिक निर्भरता है।

10. उपवर्गों का निर्माण– वर्ग व्यवस्था में भी प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत अनेक उपवर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक वर्ग में अनेक उपवर्ग पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए श्रमिक वर्ग के अन्तर्गत बीड़ी श्रमिकों का वर्ग, अगरबत्ती श्रमिकों का वर्ग, मजदूरी करने वाले श्रमिक का वर्ग, फैक्ट्रियों व कारखानों में कार्यरत श्रमिकों का वर्ग आदि। ये सभी श्रमिक वर्ग के ही उपवर्ग है।

वर्ग निर्धारण के प्रमुख आधार

वर्ग निर्धारण के सम्बन्ध में समाज विज्ञानियों के विचारों में पर्याप्त भिन्नता है। कुछ समाजशास्त्री वर्ग निर्धारण का आधार सामाजिक व आर्थिक तत्वों को मानते है, तो कुछ विद्वान सांस्कृतिक पक्ष को मुख्य आधार मानते हैं। वास्तविकता तो यह है कि वर्गों का निर्माण विभिन्न आधारों पर हो सकता है, जैसे शिक्षा, व्यवसाय, लिंग, जाति, धर्म, सम्पत्ति, आय, राजनैतिक सत्ता, निवास का स्थान आदि। इनमें से प्रमुख आधारों की नीचे चर्चा की जा रही है–

1. आर्थिक स्थिति– आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में वर्ग निर्धारण का आधार आर्थिक स्थिति है। व्यक्ति की आर्थिक स्थिति ही उसे एक विशिष्ट सामाजिक स्थिति प्रदान करने में सहयोगी होती है। व्यक्ति की आर्थिक स्थिति ही या तो उसका जीवन स्वर्ग में गुजारने की स्थिति कर देती है या उसका जीवन नरक से भी बदतर स्थिति में गुजारने को मजबूर कर देती है। आर्थिक स्थिति के आधार पर ही समाज में उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग व निम्न वर्गों का उदय हुआ है। आर्थिक स्थिति किस प्रकार वर्ग निर्धारण का आधार बनाती है, इसके सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स व मैक्स वेबर ने बहुत सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है।

2. व्यवसाय की प्रकृति– व्यवसाय की प्रकृति भी वर्ग निर्धारण करने का एक महत्वपूर्ण आधार हैं भारतीय समाज में तो प्राचीनकाल से ही व्यवसाय को समाज के स्तरीकरण का आधार माना गया है। व्यवसाय की प्रकृति के आधार पर विभिन्न वर्गों का उदय हुआ तथा व्यवसाय की समानता के आधार पर आधुनिक युग में विभिन्न वर्ग बने। उदाहरण के लिये शिक्षक का पेशा निश्चित रूप से मजदूरी का पेशा अपनाने वाले से ऊँचा व अलग होता है। व्यवसाय की प्रकृति ही व्यक्तियों में ऊँच नीच की भावना तथा अपने व्यवसाय से सम्बन्धित सदस्यों के प्रति प्रेम, सहानुभूति, सहयोग व आत्मीयता की भावना को जन्म देती है। अतः व्यवसाय की प्रकृति वर्ग निर्धारण का आधार है।

3. निवास स्थान का आधार– वर्ग निर्धारण में निवास करने का स्थान भी महत्वपूर्ण है। प्रत्येक शहर एवं गाँव

विभिन्न हिस्सों में बॅटा रहता है, जिन्हें कि मोहल्लों, वार्डो व विभिन्न क्षेत्रो के नाम से जाना जाता है। समाज के सदस्यों के मन में इन क्षेत्रों के प्रति एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण बन जाता है और एक विशेष प्रकार की भावना होती है और इसी के आधार पर वहाँ निवास करने वालों की स्थिति का निर्धारण किया जाने लगता है। उदाहरण के लिए सिविल लाइन, सर्राफा बाजार, मेन बाजार आदि ऐसे क्षेत्रो के उदाहरण हैं जिनके साथ आर्थिक सुदृढता की भावना जुड़ी रहती है और इन क्षेत्रों के निवासियों को आर्थिक दृष्टि से उच्च वर्ग का माना जाता है। इसी प्रकार लेबर कॉलोनी, झुग्गी–झोपड़ियों का मोहल्ला, चमरोला, बसुरयाना आदि ऐसे क्षेत्र है जिनमें रहने वालों में मुख्यतः निम्न वर्ग के या गरीब व्यक्ति होते हैं। अतः व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार ही रहने के स्थान का चयन करता है। निवास स्थान का आधार भी वर्ग निर्धारण करता है।

4. शिक्षा– शिक्षा अर्थात् ज्ञान प्राचीन समय से ही सामाजिक प्रतिष्ठा का एक महत्वपूर्ण आधार माना जाता रहा है। एक विचारक के अनुसार, ''ज्ञान (शिक्षा) मनुष्य का तीसरा नेत्र है।'' शिक्षा वह महत्वपूर्ण माध्यम है जो व्यक्ति के स्वाभाविक गुणों का विकास करती है तथा उसे सामाजिक व्यवहार करने योग्य बनाती है। अतः स्पष्ट है कि शिक्षा की क्षमता या अक्षमता के आधार पर वर्गों का निर्माण होता है और समान दृष्टिकोण रखने वाले एक वर्ग विशेष के सदस्य हो जाते हैं। उदाहरण के लिये शिक्षित वर्ग व अशिक्षित वर्ग।

5. धर्म– भारतीय समाज में धर्म अनादिकाल से सामाजिक महत्व का विषय रहा है और विभिन्न वर्गों का आधार बना रहा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल के समय सम्पूर्ण भारतीय समाज हिन्दू, मुस्लिम व अंग्रेज वर्ग में विभक्त था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सर्वधर्म स्वभाव के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया, किन्तु आज भी हिन्दू वर्ग, मुस्लिम वर्ग, सिख वर्ग, क्रिश्चियन वर्ग के रूप में समाज विभक्त है।

6. जाति– जाति भी वर्ग निर्धारण का एक मुख्य आधार है। जिसके आधार पर वर्तमान समय में विभिन्न जातीय वर्ग देखे जा सकते हैं। जाति में भी उच्चता एवं निम्नता की भावना समाहित रहती है। इस प्रकार जाति भी वर्ग निर्धारण का एक महत्वपूर्ण आधार है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि वर्ग–निर्धारण के विभिन्न आधार हैं जो कि समाज को विभिन्न स्तरों या भागों में बॉटते हैं। राबर्ट बीरस्टीड ने वर्ग–निर्धारण के आधारों को निम्न सात प्रकार से स्पष्ट किया है– 1. सम्पत्ति, धन, पूँजी या आय, 2. परिवार या रक्त समूह, 3. निवास का स्थान, 4. निवास की अवधि, 5. पेशा, 6. शिक्षा, 7. धर्म। जबकि थार्सटीन वेब्लन ने समाज को चार प्रमुख वर्गों में बॉटा है– (अ) परजीवी या अनुत्पादक विलासी वर्ग, (ब) पुराने रईस या नवाब (धनाढ्य वर्ग), (स) नवधनाढ्य या सट्टेदार, (द) उत्पादक श्रमजीवी वर्ग। वेब्लन का कहना है कि प्रत्येक वर्ग अपने से उॅचे वर्ग में पहुॅचने हेतु आकर्षक व विलासितापूर्ण वस्तुओं का उपयोग अधिक से अधिक करता है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि वर्ग निर्धारण के लिए किसी एक आधार को स्वीकार नहीं किया जा सकता। वर्ग निर्धारण के विभिन्न आधार है।

नवीन वर्ग व्यवस्था (अथवा) वर्ग व्यवस्था के नये आयाम

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के स्तरीकरण का प्रमुख आधार वर्ग व्यवस्था ही रही है। आधुनिक समाज में बढते औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा, तथा विभिन्न राजनीतिक एवं अन्य आन्दोलनों के कारण परम्परागत वर्ग व्यवस्था में परिवर्तन आया है। कई नये वर्गों का जन्म हुआ है, और पुराने वर्गों का लोप भी। वर्तमान समाज में विद्यमान प्रमुख नवीन वर्ग व उनकी भूमिका को निम्नानुसार समझा जा सकता है।

1. बुद्धिजीवी वर्ग–पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति एवं नवीन विचारधाराओं के प्रभाव से विवेकवाद, जनतंत्रवाद, विज्ञानवाद आदि मूल्यों पर आधारित नये भौतिक वर्गों का उदय हुआ है। इससे राजा राममोहन राय व उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज का 'बौद्धिक' वर्ग अग्रणी था। वास्तविकता यह थी कि इस देश में आधुनिक शिक्षा व वैज्ञानिक ज्ञान का जैसे–जैसे विस्तार होता गया, उसी के साथ–साथ बुद्धिजीवी वर्ग का आकार भी बढ़ गया। फलतः आज शिक्षकों, सामाजिक विचारकों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, शोधकर्ताओं, पत्रकारों आदि के एक विशाल बुद्धिजीवी वर्ग को इस देश में देखा जा सकता है। कुछ भी हो, इस बुद्धिजीवी वर्ग ने भारतीय समाज–व्यवस्था को संगठित व स्वस्थ रूप देने में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया है। स्मरण रहे कि इस देश में सभी समाज सुधार व धर्म–सुधार, यहॉ तक कि राजनैतिक राष्ट्रीय आन्दोलन इसी बुद्धिजीवी वर्ग के द्वारा ही प्रारम्भ किये गए।

2. शासक वर्ग– इस वर्ग के अन्तर्गत सत्तारूढ राजनीतिक दल के लोग आते हैं। ये शासन व्यवस्था में विभिन्न पदों पर रहते हुए शासन तन्त्र का संचालन करते हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में कई बार इस वर्ग के लोगों में बदलाव होता रहता है। कभी किसी राजनीतिक दल के लोग शासन वर्ग में आते है, तो कभी किसी अन्य दल के। इस वर्ग का प्रमुख कार्य देश का आर्थिक एवं सामाजिक विकास में योगदान करना होता है। यह वर्ग अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में लगा भी रहता है और कई रूपों में उसे सफलता भी मिली है। पर वर्तमान में देश राजनीति के गिरते स्तर, भाई–भतीजावाद, भ्रष्टाचार, बेईमानी तथा सत्ता–लोलुपता की भावना ने इस वर्ग की कार्यप्रणाली को कलुषित कर दिया है।

3. मजदूर या श्रमिक वर्ग– भारत की कुल आबादी का लगभग एक–तिहाई भाग इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है। यह मेहनतकश, सर्वहारा लोगों का वर्ग है जिसके पास

रोटी–रोजी कमाने के लिए अपने 'श्रम' के अलावा कुछ भी नहीं होता। इसीलिए इस वर्ग के सदस्य मिल और कारखानों में काम करते है, खानों एवं चाय–बागानों में दिन–रात मेहनत करते हैं, रिक्शा, ठेला, टैक्सी या बस चलाते, खेतों में काम करते हैं। भारत में आर्थिक तौर पर उनकी स्थिति बहुत ही गिरी हुई है। इन्हें न तो उचित भोजन मिलता है, न पूरे कपड़े और न ही समुचित विकास।

4. कृषक वर्ग– सामन्यतः कृषक वर्ग को भी श्रमिक वर्ग का ही एक उपभाग माना जा सकता है, फिर भी भारतीय समाज के सन्दर्भ में इस वर्ग का पृथक् उल्लेख इस कारण जरूरी है क्योंकि भारत एक कृषि प्रधान देश है और आज भी इस देश की कुल जनसंख्या की लगभग 75 प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती है एवं देश के कुल श्रमिकों या श्रम शक्ति का लगभग 65 प्रतिशत लोग कृषक है। खेती करना ही इस वर्ग के सदस्यों का मुख्य पेशा है। यह वर्ग पहले भी था, आज भी है, परन्तु आधुनिक भारत में इसके स्वरूप व प्रकृति में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। दूसरे शब्दों में, यंत्रीकरण, आधुनिकीकरण, लौकिकीकरण एवं राजनीतिकरण का कुछ–न–कुछ प्रभाव ग्रामीण समदायों में रहने वाले इस वर्ग के सदस्यों पर पड़ा है फिर भी यह वर्ग भारतीय अर्थव्यवस्था की प्राण शक्ति है।

5. पूँजीपति वर्ग– इस वर्ग के अन्तर्गत बड़े–बड़े उद्योगपति, मिल–कारखानों, खानों तथा व्यावसायिक घरानों के मालिक आते हैं। इसी वर्ग को कार्ल मार्क्स ने 'शोषक वर्ग' की संज्ञा दी है।

यह वर्ग सम्पूर्ण देश की अर्थव्यवस्था की कुंजी को अपनी मुट्ठियों में बन्द रखता है और इसी कारण देश के आर्थिक क्रियाकलापों, उत्पादन, वितरण आदि पर इसका पूर्ण नियन्त्रण होता है, यहॉ तक कि सरकार की आर्थिक नीतियों का दिशा–निर्धारण इन्हीं के इशारे पर होता है। अपनी विशाल आर्थिक शक्ति के कारण इस वर्ग में सरकार पर अनुचित दबाव तक डालने की क्षमता होती है। यह विलासी–वर्ग भी है, खूब ऐश–आराम की जिन्दगी बिताता, दृष्टि–आकर्षण उपभोग और बरबादी भी करता है। यही वर्ग चुनाव के समय अपनी स्वार्थ–सिद्धि के लिए चुनाव फण्ड में बहुत बड़ी रकम चन्दे में देता है और यही वर्ग करोड़ों रुपये के आय–करों व सम्पत्ति–करों की चोरी भी करता है। वर्तमान भारत में जो औद्योगीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील है वह वास्तव में इसी वर्ग की देन है। इसके अन्तर्गत मुख्यतः बड़े थोक व्यापारी आते हैं जो कि वस्तुओं के उत्पादक व उपभोक्ता के बीच एक कड़ी का काम करते हैं। अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए यह वर्ग कुछ भी कर सकता है। जमाखोरी, मुनाफाखोरी तथा कालाबाजारी इस देश के व्यापारी वर्ग के कार्य हैं। यह वर्ग प्रचार या व्यापारिक विज्ञापनों के माध्यम से लोगो की रुचि, पसन्द तथा फैशन को बदलने में सहायक होता है और लोगों को देश–विदेश के नये–नये उत्पादनों के सम्बन्ध में जानकारी देकर उन्हें 'अप टू–डेट' बनने में मदद करता है। यही वर्ग व्यापार के नये'नये तरीकों को खोजकर नये परिवर्तनों को लाने में मददगार सिद्ध होता है।

6. स्वतन्त्र पेशों में लगा अभिजात वर्ग– इस वर्ग के अन्तर्गत डॉक्टर, वकील, कलाकार आदि आते हैं जो कि किसी के नौकर के रूप में काम न करके स्वतंत्र रूप में अपने कार्य व कर्तव्यों को करते रहते हैं। यह वर्ग किसी न किसी रूप में जनसेवा कार्य में लगा रहता है। किन्तु देश के सामान्य नैतिक पतन का प्रभाव इस वर्ग पर भी पडा है और इसके भी अधिकांश सदस्य सस्ते व आसान ढंग से पैसा कमाने की फिराक में रहते हैं। इसका सामाजिक महत्व अत्यधिक है क्योंकि यह भी बुद्धिजीवी वर्ग का ही एक अंग है और अपने ज्ञान व तर्क के आधार पर अनेक सामाजिक परिवर्तनों को लाने में सहायक हो सकता है। स्वतंत्र व्यवसाय में लगा एक विशिष्ट वर्ग तस्करों (Smugglers) का है, जो कि चोरी–छिपे सोना, कपड़ा, विदेशी मुद्रा, फिल्म आदि असंख्य चीजों को विदेशों से इस देश में ले आते और इस देश से विदशों को ले जाते हैं। इस वर्ग का संगठन अत्यन्त ही सुदृढ़, सुव्यवस्थित एवं गोपनीय है। ये करोड़ो का सौदा करते हैं और इनका उच्चतम नेता एक सम्राट से कम हैसियत का नहीं होता। कहते हैं कि देश में इस वर्ग ने सरकार के समानान्तर अर्थव्यवस्था को चला रखा है और अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर इनका कारोबार चलता रहता है यह तस्करों का वर्ग, देश का सबसे बड़ा दुश्मन है क्योंकि यह देश को परिवर्तन की स्वस्थ दिशा से पथभ्रष्ट कर देता है।

7. नौकरशाह वर्ग– नौकरशाह वर्ग एक प्रकार का संस्तरणात्मक संगठन है जिसका प्रमुख उद्देश्य बड़े पैमाने पर प्रशासनिक कार्य को चलाने के लिए अनेक व्यक्तियों व विशेषज्ञों के कार्यों में तर्कसंगत रूप में समन्वय करना होता है। सरकारी सचिवालय के कर्मचारी, अथवा जिला स्तर पर कलेक्टर आदि नौकरशाह वर्ग के ही सदस्य होते हैं। यह वर्ग उन संगठित कर्मचारियों का बोध करवाता है जो कि सरकार के एक स्थायी अंग के रूप में निरन्तर शासन–प्रबन्ध से सम्बन्धित कार्यों को करता रहता है और सरकार के बदल जाने पर भी उस पर कोई ऑच नहीं आती। भारत में इस वर्ग का प्रशासनिक कार्यों को चलाने में महत्वपूर्ण योगदान होता है।

जाति और वर्ग के मध्य अन्तर

जाति व वर्ग के सम्बन्ध में पूर्व की गई विवेचना से स्पष्ट है कि जाति व वर्ग में अनेक विभिन्नताएँ है जिन्हें कि विभिन्न आधार जैसे कि सदस्यों की स्थिति में गतिशीलता, व्यवसाय, विवाह, पारस्परिक सम्बन्ध प्रमुख है, के द्वारा समझा जा सकता है। जाति व वर्ग में अन्तर बताते हुए श्री मजूमदार और मदान ने तो संक्षेप में स्पष्ट किया है कि ''जाति एक बन्द वर्ग है, जबकि वर्ग एक खुली हुई जाति है।'' जाति और वर्ग दोनों ही

सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधार है।

रजनीकान्त शास्त्री ने लिखा है कि ''जाति प्राकृतिक है, पर वर्ग कृत्रिम है, जाति जन्म द्वारा प्राप्त आकृति– विशेष पर किन्तु वर्ग वैयक्तिक गुण–कर्म पर आश्रित रहता है।'' संक्षेप में जाति व वर्ग के मध्य निम्न अन्तर होता है–

1. जाति में व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति का आकलन जन्म के आधार पर किया जाता है। जाति जन्म की स्थिति की सूचक है। जबकि वर्ग में व्यक्तियों की स्थिति का निर्धारण उनके वैयक्तिक गुणों, आर्थिक गुणों आदि के आधार पर होता है। अतः स्पष्ट है कि जाति जन्म की स्थिति तथा वर्ग गुण–धर्म द्वारा प्राप्त वर्ग स्थिति का सूचक है, जो व्यक्ति अपनी कुशलता के आधार पर प्राप्त करता है।
2. जाति की सदस्यता चुँकि प्रदत्त होती है, इसलिए इसके सदस्य कितने भी कुशल व योग्य क्यों न हों, उच्च जाति को ग्रहण नहीं कर सकते, अर्थात् जाति में गतिशीलता नहीं होती। इसके विपरीत वर्ग की सदस्यता हेतु वैयक्तिक गुणों का विशेष महत्व होता है तथा इसकी सदस्यता अर्जित की हुई होती है इसलिए वर्ग के आधार चाहे पूर्वजों द्वारा प्राप्त हो या स्वयं अर्जित किये गये हों, वे व्यक्ति को पूर्ण परिवर्तित करने में सहायक बनते है, अर्थात् वर्ग में गतिशीलता का गुण पाया जाता है।
3. जाति के अन्तर्गत प्रत्येक जाति का व्यवसाय पूर्व से ही निश्चित होता है, तथा जातीय सदस्यों से आशा की जाती है कि वे परम्परागत व्यवसाय ही करें किन्तु वर्ग में ऐसा कोई नियम नहीं रहता और उसके सदस्य भिन्न–भिन्न व्यवसाय या पेशों को करते हैं। अतः कहा जा सकता है जाति में व्यावसायिक गतिशीलता का अभाव पाया जाता है, जबकि वर्ग में व्यवसायिक गतिशीलता पाई जाती है।
4. जाति अपने सदस्यों पर जाति के बाहर विवाह सम्बन्ध स्थापित करने पर कठोर नियन्त्रण लगाती है तथा नियन्त्रण को तोड़ने वालों के लिए दण्ड का प्रावधान रहता है। इस प्रकार जाति अन्तर्विवाही समूह होता है। जबकि वर्ग में इस प्रकार के कोई नियम नहीं रहते, बल्कि विवाह के पूर्व वर्ग के सदस्य दोनों पक्षों (वर व वधू) की सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति व वैयक्तिक गुणों पर विशेष ध्यान देते हैं। वर्ग के सदस्य किसी भी जाति या धर्म में विवाह सम्बन्ध स्थापित करने हेतु स्वतंत्र होते हैं।
5. जाति विभिन्न माध्यमों से अपने सदस्यों के आचरण, व्यवहार व कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाती है, किन्तु वर्ग अपने सदस्यों पर इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रखता।
6. जाति के सदस्यों के मध्य पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता व सहयोग के सम्बन्धों का विस्तार रहता है, क्योंकि जाति अपने सदस्यों के हितों व लाभों के लिए प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कार्य करती है। किन्तु वर्ग के सदस्यों के मध्य दिखावटी, स्वार्थ पर आधारित सम्बन्ध पाये जाते है, तथा इनमें पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता, वैयक्तिक लाभ की प्रवृति पाई जाती है।
7. जाति व्यवस्था में विभिन्न, स्तरण पाये जाते हैं। साथ ही एक ही जाति विभिन्न उपभोगों या जातियों में विभक्त रहती है। उदाहरण के लिए ब्राह्मण जाति कान्यकुब्ज, मैथिल, सनाढ्य व झिझौतिया आदि उपजातियों में विभक्त है तो क्षत्रिय जाति, राजपूत, तोमर, राठौर, चौहान व ठाकुरों में विभक्त हो गई। इसी प्रकार वर्ग में भी विभिन्न स्तरण पाये जाते हैं, जैसे– उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग। शासक वर्ग व शासित वर्ग, इत्यादि।
8. जाति व्यवस्था चूँकि एक बन्द वर्ग होती है तथा इसके सदस्यों पर विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण होते हैं अतः ये अवसरों का उपयोग नहीं कर पाते और न इन्हें ऐसा करने की अनुमति ही रहती है। किन्तु वर्ग एक खुली हुई जाति (Caste) होती है जिसमें सदस्यों को अवसरों का उपयोग करने व लाभ उठाने का पूर्ण अधिकार रहता है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जाति और वर्ग दोनों पृथक–पृथक अवधारणाएँ है। जहाँ जाति परम्परागत स्थिति को प्रदर्शित करने में सक्षम है, वहीं वर्ग आधुनिक युग की देन कहे जा सकते हैं। संक्षेप में, जैसा कि मजूमदार और मदान का कहता है कि ''जाति एक बन्द वर्ग है, तथा वर्ग एक खुली हुई जाति।

प्रजाति

प्रजाति से संबंधित समस्या ने विश्व में अनेकों बार उग्ररूप धारण कर लिया हैं। विश्व के महानतम व्यक्तियों को अपने जीवन से इस प्रजातिवाद के कारण हाथ धोना पड़ा हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन व जॉन, एफ. केनेडी इसी प्रजातीय दीवानेपन के शिकार हुए। काले–गोरों का संघर्ष आज भी अमेरिका में उग्र रूप में विद्यमान हैं। दक्षिण–अफ्रीका की रंगभेद नीति के कारण वह विश्व देशों की गिनती में आ गया हैं, जहॉ की जनता रंगभेद की दुर्भावनाओं से घिरी हुई हैं। ये सब संघर्ष प्रजाति के अर्थ को गलत दृष्टिकोण से देखने के कारण हैं।

प्रजाति के संबंध में गलत दृष्टिकोण

प्रजाति के संबंध में कई गलत धारणाएँ प्रचलित हैं। इन गलत धारणाओं ने ही प्रजातीय संघर्ष को जन्म दिया। ये गलत धारणाएँ निम्नलिखित हैं–

1. प्रजाति व राष्ट्र– कई बार प्रजाति का अर्थ राष्ट्र से लगा लिया जाता हैं। राष्ट्र के नाम पर ही प्रजाति का अर्थ

समझ कर भारतीय प्रजाति, अमेरिकन प्रजाति, पाकिस्तानी प्रजाति आदि नाम से समूह को प्रजातीय अर्थ में संबोधित किया जाता हैं। वास्तव में राष्ट्र का प्रजाति से कोई संबंध नहीं हैं। एक ही राष्ट्र में कई प्रजातीय तत्व पाये जा सकते हैं। प्रजाति का भौगोलिक क्षेत्र से कोई संबंध नहीं होता जबकि राष्ट्र का भौगोलिक क्षेत्र निश्चित रहता हैं।

2. प्रजाति व धर्म– कई बार प्रजाति का प्रयोग धर्म से संबंधित अर्थ में किया जाता हैं। धार्मिक समूहों के रूप में प्रजाति सम्बोधन किया जाता हैं। जैसे हिन्दू प्रजाति, ईसाई प्रजाति, इस्लाम प्रजाति आदि। वास्तव में धर्म व प्रजाति, का कोई संबंध नहीं होता। एक ही प्रजाति के लोग अलग–अलग धर्मों का पालन कर सकते हैं। इसी प्रकार एक ही धर्म को मानने वाले अलग–अलग प्रजातियों के लोग हो सकते हैं। धर्म एक सांस्कृतिक धारणा हैं जब कि प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय धारणा हैं।

3. प्रजाति व भाषा– कुछ लोग प्रजाति को भाषाई अर्थ में समझते हैं व हिन्दी प्रजाति, अग्रेंजी प्रजाति, उर्दू प्रजाति आदि नाम से सम्बोधित करते हैं। वास्तव में भाषा और प्रजाति का कोई संबंध नहीं हैं। एक ही प्रजाति के लोग विभिन्न भाषाओं का प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार एक ही भाषा का प्रयोग विभिन्न प्रजातियों के लोग कर सकते हैं। भाषा का संबंध संस्कृति से हैं जबकि प्रजाति का संबंध संस्कृति से नहीं।

4. प्रजाति एवं संस्कृति– कुछ लोग प्रजाति को सांस्कृतिक अर्थ में समझते हैं। परन्तु प्रजाति एक वंशानुक्रमण से संबंधित धारणा हैं। अतः इसका संबंध प्राणीशास्त्र से हैं जबकि संस्कृति सामाजिक विरासत हैं। अतः इसका संबंध सामाजिक रीति–रिवाजों, परम्पराओं व धारणाओं से हैं।

5. प्रजाति का वास्तविक अर्थ– प्रजाति एक प्राणीशास्त्र धारणा हैं। यह विशिष्ट वंशानुगत शारीरिक लक्षणों के आधार पर निश्चित की जाती हैं। समाज शारीरिक लक्षण वाले समूह को प्रजाति के नाम से पुकारा जाता हैं। ये शारीरिक लक्षण वंशानुक्रमण की प्रक्रिया से मानव समूह में हस्तान्तरित होते हैं।

प्रजाति की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों एवं लेखकों ने प्रजाति की निम्नलिखित परिभाषाएँ हैं–

1. **कोबर** के अनुसार, ''प्रजाति एक प्रमाणित प्राणीशास्त्रीय धारणा हैं। यह एक समूह हैं जो कि वंशानुक्रमण वंश या प्रजातिय गुण या उपजाति के द्वारा सूचित हैं।''

2. **हाबल** के अनुसार, ''प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय समूह हैं। जो कि शारीरिक लक्षणों का एक विशिष्ट योग धारण करता हैं। ये लक्षण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में शुद्ध रूप में मिलते।''

3. **रेमण्ड फर्थ** के अनुसार, ''प्रजाति ऐसे मनुष्यों का समूह हैं जिनमें कुछ वंशानुगत सामान्य शारीरिक लक्षण पाये जाते हैं।''

प्रजाति की विशेषताएँ

1. प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय धारणा हैं।
2. प्रजाति का आधार वंशानुगत विशिष्ट सामान्य शारीरिक लक्षण हैं।
3. उन्हीं विशिष्ट सामान्य शारीरिक लक्षणों के आधार पर ही एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से अलग किया जा सकता हैं।
4. ये शारीरिक लक्षण सामान्य रूप से एक बड़े मानव समूह में पाये जाना चाहिये तभी उसे प्रजाति कहा जाता हैं। किसी एक परिवार में विशिष्ट शारीरिक लक्षण पाये जाने से उस परिवार को प्रजाति नहीं कहा जा सकता हैं।

प्रजाति के लक्षण

जैसा कि उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हैं प्रजाति का निश्चय किसी मानव समूह में पाये जाने वाले विशिष्ट शारीरिक लक्षणों के आधार पर किया जाता हैं ये शारीरिक लक्षण वंशानुगत होते हैं व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होते रहते हैं। लक्षणों के इस प्रकार हस्तान्तरित होने को वंशानुक्रमण कहते हैं। वंशानुक्रमण से प्राप्त इन शारीरिक लक्षणों को दो भागों में विभक्त किया जाता हैं।

(A) निश्चित शारीरिक लक्षण

(B) अनिश्चित शारीरिक लक्षण

(A) निश्चित शारीरिक लक्षण

निश्चित शारीरिक लक्षणों से अर्थ हैं, वे शारीरिक लक्षण जो नापे जा सकते हों तथा जो पर्यावरण से बहुत कम प्रभावित होते हों। ऐसे लक्षणों में निम्न शारीरिक लक्षण आते हैं–

(1) शीर्ष देशना–निश्चित शारीरिक लक्षणों में प्रमुख रूप से शीर्ष देशना को ही मानवशास्त्रियों द्वारा अधिक महत्व दिया जाता हैं। क्योंकि सिर की बनावट अन्य सभी से अधिक स्थिर रहती हैं। सिर की बनावट पर पर्यावरण का बहुत ही कम प्रभाव पड़ता हैं। शीर्ष देशना की माप सिर की लम्बाई व चौड़ाई के आधार पर की जाती हैं। सिर की लम्बाई माथे में भौं की हड्डी की ऊपर नाक की रेखा में स्थित एक छोटे से गड्ढे से सिर के पीछे तक माप कर निकाली जाती हैं। सिर की चौड़ाई कान के कुछ ऊपर से मापी जाती हैं। शीर्षदेशना निकालने के लिये निम्न सूत्र का प्रयोग किया जाता हैं–

$$\frac{\text{सिर की चौड़ाई}}{\text{सिर की लम्बाई}} \times 100$$

शीर्षदेशना की इस माप के अनुसार सिर की बनावट को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता हैं।

(i) लम्बा सिर–जिसकी देशना 75 से कम हो। नीग्रो लोगों का सिर इस श्रेणी में आता हैं।

(ii) मध्य सिर–जिसकी देशना 75 से 80 तक हो। श्वेत लोगों का सिर इस श्रेणी में आता हैं।

(iii) चौड़ा सिर–जिसकी देशना 80 से अधिक हो। मंगोलियन लोगों का सिर इस श्रेणी में आता हैं।

(2) नासिका देशनाः–नसिका देशना नाक की चौड़ाई एवं लम्बाई की माप करके निकाली जाती हैं। इसकी माप के लिये निम्न सूत्र का प्रयोग किया जाता हैं–

$$\frac{\text{नाक की चौड़ाई}}{\text{नाक की लम्बाई}} \times 100$$

उपरोक्त माप के अनुसार नाक को भी तीन भागों में विभाजित किया जाता हैं–

(i) चौड़ी नाक–जिनकी देशना 85 से अधिक हो, जैसे नीग्रो लोगों की।

(ii) मध्य नाक या चपटी नाक–जिन नाकों के देशना 70 से 84.99 तक हों, जैसे मंगोलियनों की।

(iii) पतली व लम्बी नाम– जिन नाकों की देशना 70 से कम हो, जैसे श्वेत लोगों की।

(iv) खोपड़ी का घनत्व– इसकी माप मनुष्य की मृत्यु के बाद ही की जा सकती हैं। इसकी माप मनुष्य की खोपड़ी में रेत या सरसों भरकर की जाती हैं। इसकी माप बहुत कठिन हैं। सबसे अधिक घनत्व श्वेत लोगों में पाया गया। सबसे कम नीग्रों लोगों में पाया गया।

(3) शरीर का कद–

कद की माप सबसे सरल माप हैं। प्रत्येक प्रजाति में कद की विभिन्नता पाई जाती हैं। कद पर वंशानुगत के साथ ही पर्यावरण का भी प्रभाव पड़ता हैं। कद की माप के अनुसार टोपीनर्ड ने कद को निम्न रूप से विभाजित किया हैं–

(i) लम्बा कद–जिनका कद 2 मीटर 30 सेन्टीमीटर या इससे अधिक हो।

(ii) औसत से अधिक–जिनका कद 1 मीटर 65 सेन्टीमीटर से 2 मीटर तक का हो।

(iii) औसत कद–जिनका कद 5 फीट से 5 फीट 5 इन्च तक का हो।

(vi) छोटा कद–जिनका कद 5 फीट से कम हो। सबसे कम अफ्रीका के बुशमेनों का पाया गया। इनका कद 4 फीट से लेकर 4 फीट 6 इन्च तक पाया गया।

रक्त समूह

मानव शरीर में पाये जाने वाले रक्त समूह को चार भागों में विभक्त किया जाता हैं–

A, B, AB व O। लाल रक्त कोषों में A व B नामक तत्व होतें हैं। वैसे तो प्रत्येक प्रजाति में चारों प्रकार के रक्त समूह वाले मनुष्य पाये जाते हैं परन्तु मात्रा प्रत्येक समूह की अधिक या कम हो सकती हैं। किसी समूह में A रक्त समूह की मात्रा अधिक होती हैं। किसी में B की। इस प्रकार रक्त समूह को भी प्रजातीय निर्धारण में महत्व दिया जाता हैं।

(B) अनिश्चित शारीरिक लक्षण

अनिश्चित शारीरिक लक्षण से अर्थ हैं ऐसे शारीरिक लक्षण जिनको मापा नहीं जा सकता। साथ ही जिन पर पर्यावरण का प्रभाव भी अधिक पड़ता हैं। अनिश्चित शारीरिक लक्षणों में निम्न लक्षण सम्मिलित किये जाते हैं–

1. त्वचा का रंग

त्वचा का रंग बड़ी सरलता से पहचाना जा सकता है। चार्ल्स डारविन ने मानव समूहों की सभी विशेषताओं का आधार त्वचा के रंग को माना है। त्वचा के रंग के आधार पर मानव समूह को तीन बड़े भागों में विभक्त किया जाता है–

(i) श्वेत वर्ण वाले लोग
(ii) पीले वर्ण वाले लोग
(iii) श्याम वर्ण वाले लोग

2. बालों की बनावट

बालों की बनावट दूसरा अनिश्चित शारीरिक लक्षण है जिसके आधार पर प्रजाति का निर्धारण किया जाता है। बालों की बनावट के अनुसार बालों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–

(i) सीधे मुलायम बाल–जो बाल सीधे हों व नीचे की तरफ झुक आयें हों, वे सीधे व मुलायम बाल होते हैं। चीनी व अन्य पीले रंग वाले लोगों के बाल इसी प्रकार के होते हैं।

(ii) चिकने घुंघराले बाल–ये बाल चिकने, घुंघराले व कुछ कड़े होते हैं। पश्चिमी एशिया, यूरोप, भारत, आस्ट्रेलिया आदि लोगों के बाल इसी प्रकार के होते हैं।

(iii) मोटे ऊनी बाल– ये बाल भेड़ की ऊन की तरह मोटे होते हैं। नीग्रो प्रजाति के बाल इसी प्रकार के होते हैं।

3. बालों का रंगः–

अनिश्चित शारीरिक लक्षणों में बालों का रंग भी आता हैं। रंग के अनुसार बालों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(i) भूरे बाल– यूरोप के लोगों विशेषकर ब्रिटेन व अमेरिका के लोगों के बाल भूरा रंग लिये हुए होते हैं।

(ii) काले बाल– भारत व शेष यूरोप के लोगों के बाल काले होते हैं।

(iii) लाल रंग के बाल– आयरलैंड, वेल्स, स्काटलैंड, फिनलैंड आदि के निवासियों व यहूदियों के बाल लाल रंग के होते हैं।

4. आँखों की बनावट

आँखों की बनावट के आधार पर आँखों को तीन भागों में विभक्त किया जाता हैं।

(i) सीधी आँखें– साधारणतः इस प्रकार की आँखें सभी प्रजातियों में पाई जाती हैं।

(ii) टेढ़ी–तिरछी बादाम के आकार की आँखे– इस प्रकार की आँखें मंगोलियनों में पाई जाती हैं।

(iii) गोल आँखें– सभी प्रजातियों में कुछ लोग इस प्रकार की आँखों के पाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त बनावट के आधार पर आँखों को दो और भागों में विभक्त किया जा सकता हैं–

(a) छोटी आँखें; (b) बड़ी आँखें।

5. आँखों का रंग

रंग के आधार पर आँखों को 4 भागों में विभक्त किया जा सकता हैं–

(i) सफेद– भारत में प्रायः सभी की आँखें इसी प्रकार की हैं।

(ii) नीली– यूरोपियंस व अमेरिका के लोगों का रंग नीला होता है।

(iii) पीली– मंगोली लोगों की आँखों का रंग पीला होता हैं।

(iv) काली– सभी प्रजाति के लोगों में इस प्रकार की आँखें पाई जाती हैं।

6. ओंठ

प्रजाति के निर्धारण में ओंठों का इतना महत्व नहीं हैं फिर भी यह एक लक्षण है जिसका कभी–कभी प्रजाति के निर्धारण में प्रयोग किया जाता हैं। साधारणतः ओंठों को दो भागों में विभक्त किया जाता हैं।

(i) पतले ओंठ– आर्य व अमरीकन लोगों के ओंठ पतले होते हैं।

(ii) मोटे ओंठ– नीग्रो लोगों के ओंठ मोटे होते हैं।

इन्हीं निश्चित व अनिश्चित शारीरिक लक्षणों के आधार पर प्रजाति का निश्चय किया जाता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रजाति का निश्चय किसी एक शारीरिक लक्षण के आधार पर नहीं किया जा सकता। समस्त लक्षणों के सम्मिश्रण के आधार पर प्रजाति का निश्चय किया जाता है। किसी एक परिवार में पाये जाने वाले सामान्य शारीरिक लक्षणों से उस परिवार को ही प्रजाति का नाम नहीं दिया जा सकता। एक बड़े समूह में विशिष्ट शारीरिक लक्षण होने पर ही उसे प्रजाति कहा जा सकता है।

विश्व की प्रजातियाँ

प्रजाति एक प्राणिशास्त्रीय धारणा हैं। प्रजाति का वर्गीकरण शारीरिक लक्षणों के आधार पर किया जाता है। विभिन्न विद्वानों ने प्रजाति के वर्गीकरण दिये हैं। प्रमुख वर्गीकरण निम्न हैं–

(A) क्रोबर का वर्गीकरण

क्रोबर ने प्रजातियों को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त किया है। इन तीनों भागों को फिर विभिन्न उपविभागों में बाँटा हैं। कोबर का वर्गीकरण इस प्रकार है–

1. काकेशायड

(i) नार्डिक (ii) अल्पाइन (iii) भूमध्यसागरीय (iv) हिन्दू

2. मंगोलायड

(i) मंगोलियन (ii) मलेशियन (iii) अमेरिकन इण्डियन

3. नीग्रोयड

(i) नीग्रो (ii) मलेशियन (iii) पिग्मी ब्लेक (iv) बुशमैन

(B) बील्स एवं हाइजर का वर्गीकरण

इन्होंने प्रजातियों को तीन प्रमुख व 9 उपविभागों में बाँटा है। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है–

1. काकेशायड

(i) अल्पाइन (ii) आर्मिनाइड (iii) भूमध्यसागरीय (iv) नार्डिक

2. मंगोलायड

(i) एशियाटिक मंगोलाइड (ii) इण्डोनेशियन मलय (iii) अमेरिकन इण्डियन

3. निग्रोयड

(i) फारेस्ट नीग्रो (ii) नीग्रिटो

(3) हक्सले का वर्गीकरण

इन्होंने प्रजातियों के पाँच प्रमुख प्रकार बताये व उपजातियों का कोई वर्णन नहीं किया। इनके अनुसार समस्त मानव जाति निम्न पाँच प्रजातियों में विभाजित की जा सकती हैं–

1. आस्ट्रेलायड
2. नीग्रोयाड
3. मंगोलायड
4. केन्थोक्राइक
5. मेलेनोक्राइक

लिंग (जेण्डर)

सामान्य बोलचाल की भाषा में लिंग का अर्थ शारीरिक संरचना संबंधी विभेदों से हैं जो कि नर तथा नारी के मध्य पाये जाते हैं। अध्ययन की दृष्टि से लिंग और व्यापक रूप में हमारी जैवकीय संरचना जीन्स का परिणाम हैं। पुरुष तथा स्त्री की व्यवहार असमानता क्या लिंग का परिणाम हैं? इस बारे में काफी विभिन्नता पाई जाती है। कई विद्वान स्त्री–पुरुष को एक–दूसरे का पूरक मानते हैं तो कई विद्वान स्त्री–पुरुष के मध्य पाये जाने वाले व्यवहार विभेद जो कि किसी–किसी रूप में सभी संस्कृतियों में पाये जाते हैं तथा कुछ विद्वान स्त्री–पुरुष के बीच पाये जाने वाले श्रम–विभाजन को विभेद का कारण मानते हैं। स्त्री–पुरुष के मध्य विभेद के लिये भिन्न–भिन्न प्रकार की व्याख्यायें की हैं जो निम्नानुसार हैं।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य– इस मत के समाजशास्त्रियों द्वारा विश्वास किया जाता हैं कि मानव व्यवहार संस्कृति द्वारा निर्धारित एवं निर्देशित रहता हैं, मानदण्ड, मूल्य एवं भूमिकायें संस्कृति द्वारा निर्धारित एवं समाज द्वारा नियंत्रित रहती हैं। इस संबंध में लेवी स्ट्रास स्त्रियों की भूमिकाओं के बारे में यह मानते हैं कि समाज की रचना की प्रक्रिया के दौरान पुरुष ने आधिपत्य प्राप्त कर लिया। स्त्री ने अधीनता की स्थिति ग्रहण

कर ली। संस्कृति का विकास स्त्री–पुरुष के आपसी सहयोग से हुआ जिसके द्वारा पारिवारिक बंधन मजबूत हुए और समाज का निर्माण हुआ।

मारग्रेट मीड़ ने मानसिक गुणों एवं प्राणिशास्त्रीय कारकों या लिंग में क्या घनिष्ठ संबंध हैं ? इसे जानने के लिये तीन भिन्न–भिन्न प्रकार की जनजातियों टेनाम्बुली, मुण्डगुमेर तथा अरापेश आदि का अध्ययन किया।

सर हैनरी मेन ने पुरुष की सामाजिक प्रस्थिति एवं स्त्री के स्थान के बारे में लिखा हैं कि सामाजिक संगठन का सार्वभौमिक रूप वह था जिसमें सत्ता का स्वरूप पितृसत्तात्मक था। प्रारंभ में परिवार ही समाज की इकाई था। पुरुष ने सदैव शासन का कार्य किया। अपवाद रूप से ही अस्थायी रूप से मानव समाज में मातृ सत्ता भी विद्यमान रही।

निष्कर्ष के रूप में मानवशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य इस बात पर बल देता है कि किसी भी मानव समाज में स्त्री और पुरुषों की भूमिकाओं के असमान वितरण के लिए संस्कृति ही मुख्य रूप से ही उत्तरदायी रहती है।

प्राणीशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अनुसार स्त्री द्वारा किये जाने वाले समस्त कार्य, कम गतिशील तथा घर पर अधिक रहने के कारण स्त्री को गृह कार्य ही सौंपे गये जबकि पुरुष ने अपनी शारीरिक क्षमताओं के कारण कृषि कार्य तथा आखेट को ग्रहण किया तथा समाज में उच्च स्थान प्राप्त किया।

समाज में आज भी यह मान्यता है कि चौखट के बाहर के कार्य पुरुष को किए जाने चाहिए तथा चौखट के भीतर के कार्य स्त्री को करने चाहिए, वह रसोई, चक्की का कार्य करे क्योंकि उसे बच्चे को जन्म देने तथा लालन–पालन का कार्य करना है। टालकाट पारसंस ने भी परिवार में पिता की भूमिका को भावनात्मक नेतृत्त्व के रूप में चित्रित किया हैं। मुरडॉक ने अपने अध्ययन में सभी समाजों में लिंग आधारित श्रम–विभाजन पाया।

एंजिल्स इस मत के पुर विरोधी रहे कि स्त्री को ईश्वर ने कमजोर बनाया है। उन्होंने इतिहास के उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने की कोशिश की हैं कि प्रारंभ से स्त्री समाज की एक स्वतंत्र एवं उत्पादन में समान रूप से भागीदार सदस्य थी और आगे चलकर वह पुरुष के अधीन व पुरुष पर निर्भर जीवन संगिनी बन गई। प्राचीन युग में स्त्री–पुरुषों का श्रम–विभाजन इस प्रकार से किया गया कि स्त्री और पुरुष दोनों को समान माना जाता था और उनके दो नये वर्ग बन गये– पुरुष शिकार करने व मछली मारने के उपयुक्त माना गया व स्त्री गृह कार्य के लिये।

विभिन्न सिद्धान्तों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि समाज में स्त्री को पुरुष की तुलना में निम्न प्रस्थिति के लिये अनेक कारक उत्तरदायी रहे हैं किसी एक कारक को स्त्री की पुरुष से निम्नता एवं अधीनता के लिये उत्तरदायी मानना एक प्रकार का निर्धारणवाद होगा जो कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से कदाचित भी स्वीकार्य नहीं है।

सामाजिक प्रक्रियाएँ–

संस्कृति और समाज वास्तव में सामाजिक प्रक्रियाओं की ही उपज है। ये प्रक्रियाएँ ही सभी स्थानों और सभी अवसरों पर व्यक्ति और समूह के सम्बन्धों के स्वरूप को निर्धारित करके समाज को व्यवस्थित बनाती हैं। वास्तविकता यह है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति कुछ व्यक्तियों से मानसिक आधार पर सम्बन्ध अवश्य स्थापित करता है। ये सम्बन्ध कभी अप्रत्यक्ष होते हैं तो कभी इनका उद्देश्य दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों और विचारों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करना होता है। सम्बन्धों के कारण व्यक्ति अन्य लोगों को भी प्रभावित करता है वरन् उनसे स्वयं भी प्रभावित होता है। समाजशास्त्र में इसे अन्तःक्रिया (State of Interaction) की स्थिति कहते हैं। जैसे अन्तःक्रियाएँ कभी व्यक्ति को व्यक्ति से या व्यक्ति को समूह से जोड़ती या पृथक करती हैं। समाज में घटित होने वाली ऐसी अन्तःक्रियाओं को ही हम सामाजिक प्रक्रियाएँ कहते हैं।

गिलिन व गिलिन ने अपनी पुस्तक कल्चरल सोशयोलॉजी में सामाजिक प्रक्रिया को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''सामाजिक प्रक्रियाओं से हमारा तात्पर्य अन्तःक्रिया करने के तरीके हैं। जिन्हें हम व्यक्तियों व समूहों के बीच सम्बन्धों के समय देखते हैं अथवा जब प्रचलित जीवन विधियों के परिवर्तन में व्यवधान पहुँचाते हैं।''

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार ''एक प्रक्रिया से तात्पर्य परिस्थिति में पहले से ही विद्यमान शक्तियों के कार्यरत होने से एक निश्चित तरीके से होने वाला निरन्तर परिवर्तन है।''

लुण्डबर्ग के अनुसार ''प्रक्रिया से तात्पर्य एक विशिष्ट और पूर्वानुमानित परिणाम की ओर से आने वाली सम्बन्धित घटनाओं की तारतम्यता से है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक प्रक्रिया के लिये सामाजिक अन्तःक्रिया एक आवश्यक तत्व है अर्थात् जब दो या दो से अधिक व्यक्ति परस्पर एक दूसरे से जिस प्रकार की अन्तःक्रिया करते हैं उसी प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया का जन्म होता है।

सामाजिक प्रक्रिया की विशेषताएँ–

1. सामाजिक प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित है।
2. सामाजिक प्रक्रिया मानवीय अन्तःक्रिया के परिणाम स्वरूप होती है जो, परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करती है।
3. सामाजिक प्रक्रिया के कई रूप होते हैं जैसे सहयोग, प्रतियोगिता, संघर्ष, व्यवस्थापन, आत्मसात आदि।
4. सामाजिक प्रक्रिया में निरन्तरता का गुण होता है।
5. सामाजिक प्रक्रिया के घटने के आन्तरिक व बाहरी कारण होते हैं।
6. सामाजिक प्रक्रियाओं की निश्चित क्रमबद्ध श्रेणियाँ होती है।

7. विभिन्न प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएँ परस्पर सम्बन्धित होती है व दूसरे पर निर्भर होती है।
8. सामाजिक प्रक्रिया की प्रकृति सामाजिक होती है।
9. सामाजिक प्रक्रिया समाज की विभिन्न संस्थाओं के ढाँचों एवं कार्यों पर निर्भर करती है।
10. सामाजिक प्रक्रिया समय एवं स्थान सापेक्ष होती है।

सहयोग–

सहयोग एक एकीकरण करने वाली प्रक्रिया है। यह मानव समाज की सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। बिना सहयोग के समाज एक पल भी नहीं चल सकता है। सहयोग समाज के सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। सहयोग समाज को संगठित करता है और व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँधता है। वर्तमान जटिल समाजों में सहयोग की प्रक्रिया प्रत्येक स्तर पर अपना कार्य करता है।

सहयोग को परिभाषित करते हुए डेविस लिखते हैं कि ''एक सहयोगी समूह वह है जो ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मिल–जुल कर प्रयास करता है जिसको सब चाहते हैं।''

ग्रीन के अनुसार ''सहयोग दो या दो से अधिक व्यक्तियों के द्वारा कोई कार्य करने अथवा सामान्य रूप से इच्छित किसी लक्ष्य तक पहुंचने के लिए किया जाने वाला निरन्तर और सामूहिक प्रयास है।''

समाजशास्त्र के शब्दकोष के अनुसार ''सहयोग वह क्रिया है जिसके द्वारा अनेक व्यक्ति अथवा समूह सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अपने प्रयासों को अधिक संगठित रूप से एक दूसरे से सम्बन्ध करते हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक अन्तःक्रिया का वह स्वरूप है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साथ साथ कार्य करते हैं और इस चेतना से प्रभावित रहते हैं कि वास्तविकता में वे सब एक है यही भावना सहयोग कहलाती है।

सहयोग की विशेषताएँ–

1. सहयोग एक सामाजिक प्रक्रिया है जो संघर्ष के विपरीत होता है।
2. सहयोग के माध्यम से समाज के सदस्य सामान्य लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।
3. सहयोग से सदस्यों का संयुक्तिकरण होता है।
4. सहयोग समाज को संगठित करता है।
5. सहयोग एक निरन्तर चलने वाला होता है।
6. सहयोग व्यक्तिगत प्रयत्न नहीं वरन् सामूहिक प्रयत्न है।
7. सहयोग सभी समाजों में देखने को मिलता है या है उसका स्वरूप कुछ भी हो।
8. सहयोग से समाज में एकीकरण की वृद्धि होती है।

प्रकार–

समाजशात्रियों ने सहयोग के भिन्न–भिन्न प्रकार बताये हैं जो निम्न हैं–

(अ) मैकाइवर और पेज ने सहयोग के दो प्रकार बताये हैं–

1. **प्रत्यक्ष सहयोग–**
   जब अनेक व्यक्ति अथवा समूह आमने–सामने (Face to Face) के सम्बन्धों द्वारा संगठित होकर कोई कार्य करते हैं तो ऐसे सहयोग को प्रत्यक्ष सहयोग कहते हैं। जैसे एक साथ मिलकर कई किसान एक साथ कृषि कार्य करते हैं तो उसे प्रत्यक्ष सहयोग कहेंगे।
2. **अप्रत्यक्ष सहयोग–**
   जब सहयोग करने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य तो समान होता है लेकिन उस उद्देश्य को वे असमान कार्यों द्वारा पूरा करते हैं तो ऐसा सहयोग अप्रत्यक्ष सहयोग कहलाता है। श्रम विभाजन ऐसे सहयोग का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। जिसमें किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके कार्यों को विभिन्न व्यक्तियों में विभाजित कर दिया जाता है।

(ब) ऑगबर्न और निमकॉफ द्वारा सहयोग के तीन प्रकार बताये हैं–

1. **सामान्य सहयोग–**
   जब कुछ व्यक्ति मिलकर समाज के सामान्य लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्य करते हैं तो उसे सामान्य सहयोग कहते हैं। उदाहरण– हम भारतीय विभिन्न त्यौहारों को सामूहिक रूप से मनाते हैं।
2. **मित्रवत् सहयोग–**
   जब हम किसी विशेष आनन्द प्राप्ति के लिए एक दूसरे का सहयोग करते हैं तो ऐसे सहयोग को मित्रवत् सहयोग कहते हैं जैसे साथ में भ्रमण करना, गाना गाना आदि ।
3. **सहायता मूलक सहयोग–**
   इस प्रकार के सहयोग में पारस्परिक सहयोग की भावना पायी जाती है अर्थात् जब किसी विकट परिस्थितियों में पारस्परिक सहयोग की भावना पायी जाती है अर्थात् जब किसी विकट परिस्थिति में हम किसी की सहायता करते हैं तो ऐसे सहयोग को सहायता मूलक सहयोग कहते हैं। उदाहरण के लिए कहीं भूकम्प आता है तो भूकम्प से हम पीड़ितों की सहायता करते हैं तो ऐसा सहयोग सहायता मूलक सहयोग कहलाता है।

(स) ग्रीन ने सहयोग के तीन प्रकार बताये हैं–

1. **प्राथमिक सहयोग–**
   प्राथमिक सहयोग का सम्बन्ध प्राथमिक समूहों से है। इन समूहों में व्यक्ति और समूहों के स्वार्थों में कोई भिन्नता नहीं होती है। प्रत्येक व्यक्ति समूह के कल्याण

को अपना कल्याण मानता है। फलस्वरूप प्राथमिक समूहों के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले सहयोग को ही हम प्राथमिक सहयोग कहते हैं जैसे परिवार, मित्र का साथ देना आदि।

2. **द्वैतीयक सहयोग–**
आधुनिक जटिल समाजों में द्वैतीयक सहयोग पाया जाता है। यह सहयोग व्यक्ति अपने या अपने समूह के विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करता है। व्यक्ति दूसरे को इतना ही सहयोग देता है जितने से उसे अपने हितों को पूरा करने में सहायता मिल सके। जैसे राजनीतिक दल, शैक्षणिक संस्थाओं आदि में होता है।

3. **तृतीय सहयोग–**
जब समाज में समायोजन के लिए सहयोग करते हैं तब ऐसे सहयोग को तृतीय सहयोग कहा जाता है। यह सहयोग पूर्णतया अवसरवादी है।

प्रतिस्पर्द्धा–प्रतिस्पर्द्धा एक असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया है जो विरोधी व्यवहार के द्वारा व्यक्ति को दूसरे के उद्देश्यों को पराजित करके अपने निजी स्वार्थों को पूरा करने का प्रोत्साहन देती है। आधुनिक समय में सामाजिक वर्गों के निर्माण में प्रतिस्पर्द्धा का महत्व सबसे आधारभूत है। प्रतिस्पर्द्धा में ईर्ष्या, द्वेष और कभी–कभी शोषण का भाव निहित होने के कारण इसे साधारणतया पृथक्करण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही सम्मिलित किया जाता है लेकिन प्रतिस्पर्द्धा की प्रक्रिया में न केवल व्यक्तियों वरन समाजों को भी विकसित करने की प्रेरणा दी है।

लुण्डबर्ग के अनुसार ''लक्ष्य को प्राप्ति के लिये दो या अधिक व्यक्तियों या समूहों का साथ–साथ प्रयत्न ऐसी दशाओं में कि किसी एक व्यक्ति या समूह का उद्देश्य या प्राप्ति दूसरे के उद्देश्य या प्राप्ति के विरोध में हो, प्रतिस्पर्द्धा कहलाती है।''

बोगार्डस के अनुसार ''प्रतियोगिता किसी ऐसी वस्तु को प्राप्त करने के विवाद को कहते हैं जो कि इतनी मात्रा में नहीं पाई जाती कि जिससे माँग की पूर्ति हो सके।

समाजशास्त्रीय कोष में प्रतिस्पर्द्धा को ''किसी सीमित वस्तु के प्रयोग या आधिपत्य के लिये संघर्ष माना है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रतिस्पर्द्धा सीमित लक्ष्यों को प्राप्त करते समय होने वाले विरोध का एक स्वरूप है।

विशेषताएँ–

1. प्रतिस्पर्द्धा में दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों का होना आवश्यक है।
2. प्रतिस्पर्द्धा में निरन्तरता का गुण विद्यमान होता है।
3. प्रतिस्पर्द्धा एक सर्वव्यापी तत्व है।
4. प्रतिस्पर्द्धा में सीमित लक्ष्य होते हैं।
5. प्रतिस्पर्द्धा में आंशिक अचेतनता होती है।
6. प्रतिस्पर्द्धा में अवैयक्तिकता होती है।

प्रकार–प्रतिस्पर्द्धा व्यक्ति के जीवन में हर क्षेत्र में देखने को मिलती है इसी आधार पर गिलिन और गिलिन ने प्रतिस्पर्द्धा के प्रकार बताये हैं जो निम्न हैं–

1. **आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा**
वर्तमान के आधुनिक युग में उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण आदि के क्षेत्र में पायी जाने वाली प्रतिस्पर्द्धा आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा कहलाती है। प्रत्येक उत्पादक गलाकाट (Cut-throat Competition) प्रतिस्पर्द्धा के द्वारा अपने हितों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिये बाजार में नहाने के कई प्रकार के साबुन विद्यमान हैं जिनमें विज्ञापनों के माध्यम से प्रतिस्पर्द्धा और अधिक बढ़ा दी गई।

2. **सांस्कृतिक प्रतिस्पर्द्धा–**
इस प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा का आरम्भ दो संस्कृतियों के सम्पर्क से होता है जिसके फलस्वरूप दोनों सांस्कृतिक समूह अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं का अधिक से अधिक प्रसार करने के लिए एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न प्रदेशों का खान–पान, रहन–सहन, नृत्य आदि।

3. **पद और कार्य सम्बन्धी प्रतिस्पर्द्धा–**
वर्तमान में पद और कार्य सम्बन्धी प्रतिस्पर्द्धा तीव्र रूप में देखने को मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति समाज में संवैधानिक रूप से उच्च से उच्च पद प्राप्त करना चाहता है क्योंकि समाज में उच्च पद के साथ सम्मान जुड़ा रहता है अर्थात् जो व्यक्ति जितने ऊँचे पद पर है, उसका सम्मान या प्रतिष्ठा भी समाज में उतनी ही अधिक होती है। ऐसा करते समय व्यक्ति दूसरे के हितों की परवाह नहीं करते हैं। उदाहरण के लिए प्रशासनिक सेवा में जाने वाला व्यक्ति प्रशासनिक पद को पाने के लिए दूसरों से प्रतिस्पर्द्धा करता है।

4. **प्रजातीय प्रतिस्पर्द्धा–**
प्रजातीय प्रतिस्पर्द्धा का तात्पर्य उस प्रतिस्पर्द्धा से है जो व्यक्ति में रंग, रूप, बनावट आदि के आधार पर की जाती है। हालांकि शारीरिक आधार पर कोई प्रजाति उच्च व निम्न नहीं होती है लेकिन फिर भी प्रजाति के आधार पर समाज में स्तरीकरण आज भी देखने को मिलता है। इस स्तरीकरण में सफेद चमड़ी वाले अपने आप को काली चमड़ी वालों से श्रेष्ठ मानते हैं और इसी आधार पर उनमें प्रतिस्पर्द्धा होती है।

प्रतिस्पर्द्धा में उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त वर्तमान समय में कई प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो गई है जैसे राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा आदि प्रतिस्पर्द्धा भी आधुनिक समाजों में देखने को मिलती है।

संघर्ष–समाज को पृथक्करण करने वाली प्रक्रियाओं में

संघर्ष सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। जिस प्रकार सभी समाजों में सहयोग पाया जाता है उसी प्रकार संघर्ष भी सभी समाजों में पाया जाता है। जब प्रतिस्पर्द्धा लक्ष्य से हटकर प्रतिस्पर्द्धा करने वालों पर केन्द्रित हो जाती है तो वह संघर्ष का रूप ले लेती है। अर्थात जब प्रतिस्पर्द्धा अनियंत्रित हो जाती है तो वह संघर्ष का रूप ले लेती है। इस स्थिति में व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या समूह को हानि पहुंचाकर अपने हितों को पूरा करने का प्रयत्न करने लगता है। ऐसी स्थिति में समाज में नियन्त्रण के साधन मात्र दिखाने के लिए रह जाते हैं।

संघर्ष किसी व्यक्ति अथवा समूह द्वारा किया गया वह अर्थपूर्ण प्रयत्न है जो शक्ति, हिंसा, प्रतिकार अथवा विरोध के द्वारा अन्य व्यक्तियों अथवा समूह की क्रिया में बाधा डालता है। संघर्ष में क्रोध और घृणा की भावना ही नहीं वरन् हिंसा, आक्रमण, क्रूरता के तत्वों का भी समावेश होता है।

गिलिन व गिलिन के अनुसार ''संघर्ष एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न व्यक्ति अथवा समूह अपने विरोधियों को हिंसा द्वारा अथवा हिंसा की धमकी देकर अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।''

प्रो. ग्रीन के अनुसार ''संघर्ष किसी अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की इच्छा का जान बूझकर विरोध करने, रोकने अथवा उसे शक्ति से पूर्ण कराने से सम्बन्धित प्रयत्न है।''

किंग्सले डेविस के अनुसार प्रतिस्पर्द्धा के परिवर्तित रूप को ही संघर्ष कहा है। आपके अनुसार ''प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष में केवल मात्रा का ही अन्तर है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संघर्ष व्यक्ति या समूह अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए दूसरे व्यक्ति या समूह को कार्य करने से हिंसा या हिंसा का दिखावा करके रोकने का प्रयास करता है।

विशेषताएं–

1. संघर्ष दो व्यक्तियों अथवा समूह के बीच होने वाले प्रयास हैं जिनमें प्रत्येक पक्ष हिंसा, विरोध, आक्रमण, उत्पीड़न अथवा घृणा के द्वारा दूसरे पक्ष के विचारों अथवा लक्ष्यों को नष्ट करने का प्रयत्न करता है।
2. संघर्ष उसी स्थिति में होता है जब एक व्यक्ति अथवा समूह के स्वार्थ और विचार दूसरे व्यक्ति अथवा समूह से बिलकुल भिन्न और कभी–कभी विरोधी होते हैं।
3. संघर्ष सदैव चेतन प्रक्रिया है जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष की समस्त गतिविधियों का ध्यान रखते हुए करता है।
4. संघर्ष समय व स्थान सापेक्ष होता है।
5. संघर्ष में अस्थायित्व का गुण होता है अर्थात् वह निरन्तर नहीं रहता है।
6. संघर्ष अवसरवादिता पर निर्भर करता है।
7. संघर्ष सार्वभौमिक होता है अर्थात् यह कम या ज्यादा सभी समाजों में पाया जाता है।

संघर्ष के प्रकार–

1. **व्यक्तिगत संघर्ष–**
   व्यक्तिगत संघर्ष उसे कहते हैं जब संघर्षशील व्यक्तियों में व्यक्तिगत रूप से घृणा होती है तथा वह अपने स्वयं के हितों के लिए अन्य को शारीरिक हानि पहुँचाते हैं। इस प्रकार के संघर्ष में व्यक्ति एक दूसरे को समाप्त करने के लिए तैयार रहते हैं।
2. **प्रजातीय संघर्ष–**
   जब व्यक्ति शारीरिक भेदभाव के कारण व्यक्तियों का वर्गीकरण करता है तो उसे हम प्रजाति कहते हैं। यह संघर्ष समूहगत होता है। जैसे श्वेत व काले लोगों में संघर्ष।
3. **वर्ग संघर्ष–**
   ऐसे संघर्ष के बारे में कार्ल मार्क्स ने अपनी व्याख्या की है। उनके अनुसार समाज के हर युग में दो वर्ग रहे हैं और यह वर्ग हमेशा से ही संघर्षरत रहते हैं। इन वर्गों का निर्माण उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर होता है। इसी आधार पर आपने वर्तमान में पूंजीपति व श्रमिक वर्ग की चर्चा की है जो आपस में अपने हितों के लिए संघर्ष करते हैं।
4. **राजनीतिक संघर्ष–**
   इस प्रकार के संघर्ष को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं–

(i) अन्तःदेशीय राजनीतिक संघर्ष–जब एक ही देश में विभिन्न राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त करने के लिए या अपनी शक्ति प्रदर्शित करने के लिए दूसरे राजनीतिक दल से विरोध करता है तो ऐसा विरोध अन्तःदेशीय राजनीतिक संघर्ष कहलाता है। जैसे भारत में भारतीय जनता पार्टी, कांग्रेस, समाजवादी पार्टी, साम्यवादी पार्टियों में होने वाला संघर्ष।

(ii) अन्तर्देशीय राजनीतिक संघर्ष–जब एक देश का दूसरे देश के साथ संघर्ष होता है तो ऐसे संघर्ष को अन्तर्देशीय राजनीतिक संघर्ष कहते हैं। जैसे भारत व पाकिस्तान में होने वाला संघर्ष।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए समाज में निरन्तर कई प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं। इन प्रक्रियाओं में सहयोगात्मक प्रक्रिया तो समाज को जोड़ने का कार्य करती है और प्रतिस्पर्द्धा व संघर्ष के माध्यम से समाज में नवीन आविष्कार एवं नवीन सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्माण होता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि समाज में संघर्ष सहयोग के अधीन होता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

- संरचना का शाब्दिक अर्थ है बनावट या बाध्य रूप।
- सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक संस्थाओं,

एजेन्सियों, प्रतिमानों तथा व्यक्तियों के द्वारा ग्रहण किये गये पदों एवं भूमिकाओं आदि इकाईयों द्वारा होता है ये इकाइयाँ व्यवस्थित होती है और इनमें स्थिरता पाई जाती है। ये सभी अमूर्त होती हैं। इन सभी अंगों में परस्पर स्थायी सम्बन्ध पाये जाते हैं।

- जिस प्रकार शरीर की संरचना का निर्माण नाड़ी–तंत्र, माँसपेशियों, पाचन तन्त्र, श्वसन तन्त्र, हाथ, पैर, आँख से मिलकर होता है उसी प्रकार सामाजिक संरचना का निर्माण परिवार, नातेदारी, समूह, जाति, वर्ग तथा विभिन्न संस्थाओं से मिलकर होता है।
- जाति जन्मजात भेद पर आधारित एक सामाजिक व्यवस्था है।
- जाति व्यवस्था का अध्ययन तीन दृष्टिकोण से किया जाता है धार्मिक दृष्टिकोण, संस्कृति दृष्टिकोण, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण।
- जाति एक बन्द वर्ग है और जन्म पर आधारित है जिसकी सदस्यता प्रदत्त है और व्यवसाय निश्चित है जबकि वर्ग खुली व्यवस्था है जो कर्म पर आधारित है जिसकी सदस्यता अर्जित है और कोई निश्चित व्यवसाय नहीं है।
- जाति समाज का एक खंडनात्मक विभाजन है।
- वर्ग समाजिक स्तरीकरण की एक मुक्त व्यवस्था है।
- वर्ग में ऊँच–नीच की भावना का समावेश होता है।
- वर्ग में जन्म का महत्व नहीं है।
- वर्ग अर्जित प्रस्थिति पर आधारित होता है।
- प्रत्येक वर्गों में पारम्पारिक निर्भरता पायी जाती है।
- प्रजाति गुण प्राणिशास्त्रीय धारणा है।
- प्रजाति का आधार वंशानुगत विशिष्ट सामान्य शारीरिक लक्षण है।
- स्त्री तथा पुरुष के व्यवहार में विभेद भी लिंग पर आधारित हैं।
- समाज में पृथक्करण करने वाली प्रक्रियाएँ सहयोग प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष हैं।
- प्रतिस्पर्धा प्रतियोगी व्यक्ति एवं समूह की इच्छाओं को अच्छी तरह संतुष्ट करती है।
- सहयोग एक निरन्तर प्रयत्न है।
- सहयोग एक स्वीकरण करने वाली प्रक्रिया के रूप में भी कार्य करता है।
- विभिन्न व्यक्तियों या समूहों द्वारा किसी सामान्य उद्देश्य के लिए परस्पर मिलकर कार्य करना सहयोग है।
- संघर्ष दूसरों या दूसरों की इच्छा के विरोध प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचार पूर्वक प्रयत्न को कहते हैं।
- संघर्ष के कई स्वरूप है जैसे व्यक्तिगत प्रजाति, वर्ग, राजनैतिक वर्ग, अन्तराष्ट्रीय संघर्ष
- संघर्ष की अपेक्षा लक्ष्य प्राप्ति के लिये सहयोग ज्यादा अच्छा समझा जाता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. इनमें से कौनसा सामाजिक संरचना का तत्व नहीं है।
   (अ) विश्वास (ब) भावनायें
   (स) मानक (द) आवश्यकतायें
2. ''सामाजिक संरचना की इकाइयाँ मनुष्य ही है।'' यह कथन किसका है?
   (अ) मे. लिनोवाकी (ब) नेडेल
   (स) रेडक्लिफ ब्राउन (द) पारसन्स
3. निम्न में से कौन सी जाति व्यवस्था की विशेषता नहीं है–
   (अ) व्यवसाय अनिश्चित होते हैं।
   (ब) जाति का निश्चय जन्म से होता है।
   (स) जाति के सदस्य अपनी जाति में विवाह करते हैं।
   (द) जातियों में ऊँच–नीच का संस्तरण होता है।
4. निम्न में से कौन जाति नहीं है–
   (अ) भील (ब) ब्राहमण
   (स) वैश्य (द) क्षत्रिय
5. जाति एक बन्द वर्ग है। यह कथन किसका है।
   (अ) कूले
   (ब) एम.एन. श्रीनिवास
   (स) जी.एस घुर्ये
   (द) मजूमदार एवं मदान
6. लिंग के प्रमुख प्रकार हैं।
   (अ) स्त्री (ब) पुरुष
   (स) नपुंसक (द) उपर्युक्त सभी
7. इनमें से कौन सी सामाजिक प्रक्रिया नहीं है।
   (अ) सहयोग (ब) प्रतिस्पर्धा
   (स) संघर्ष (द) जाति
8. क्रिकेट का मैच किसका स्वरूप है–
   (अ) जाति (ब) वर्ग
   (स) प्रतिस्पर्धा (द) नातेदारी
9. वर्ग संघर्ष की अवधारणा किसने दी है।
   (अ) अगस्त कॉम्ट (ब) दुर्खीम
   (स) कार्ल मार्क्स (द) राधकमल मुखर्जी

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. संरचना से आप क्या समझते हैं?
2. सामाजिक संरचना की परिभाषा दीजिये।
3. सामाजिक संरचना के आवश्यक तत्व बताइये।
4. जाति से क्या तात्पर्य है?
5. जाति का निर्धारण कैसे होता है?
6. वर्ग से आप क्या समझते हैं?
7. प्रजाति का अर्थ बताइये।

8. प्रजाति का निर्धारण किन लक्षणों के आधार पर होता है?
9. लैंगिकता (जेण्डर) से आप क्या समझते हैं?
10. लिंग विषमता या लिंग असमानता क्या है?
11. सहयोग से आप क्या समझते हैं?
12. प्रतिस्पर्धा की परिभाषा दीजिये।
13. प्रतिस्पर्धा के प्रकार बताइये।
14. संघर्ष किसे कहते हैं?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सामाजिक संरचना को उदाहरण सहित समझाइये।
2. सामाजिक संरचना की कोई दो विशेषता बताइये।
3. जाति के प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिये।
4. जाति तथा वर्ग के अन्तर स्पष्ट कीजिये।
5. जाति तथा प्रथा के प्रमुख दोष बताइये।
6. वर्ग का अर्थ बताइये।
7. वर्ग की सामान्य विशेषताएँ बताइये।
8. विश्व की प्रमुख प्रजातियाँ कौन कौन सी हैं?
9. प्रजातिवाद क्या है?
10. विषमता का अर्थ बताइये।
11. सामाजिक क्षेत्र में विषमता को समझाइये।
12. सहयोग को उदाहरण सहित समझाइये।
13. प्रतिस्पर्धा के कोई दो उदाहरण दीजिये।
14. संघर्ष के कोई दो स्वरूप बताइये।
15. प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष में अन्तर स्पष्ट कीजिये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सामाजिक संरचना की परिभाषा दीजिये एवं इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइये।
2. सामाजिक संरचना के प्रमुख तत्वों की विवेचना कीजिये।
3. जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिये।
4. जाति व्यवस्था क्या है? जाति व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों की विवेचना कीजिये।
5. वर्ग का अर्थ बताते हुए वर्ग की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।
6. वर्ग को परिभाषित करते हुए जाति व वर्ग में अन्तर स्पष्ट कीजिये।
7. प्रजाति का अर्थ बताते हुए जाति तथा प्रजाति में अन्तर स्पष्ट कीजिये।
8. प्रजातिवाद के दुष्परिणामों का वर्णन कीजिये।
9. भारत में लिंग असमानता पर एक लेख लिखिये।
10. सहयोग की परिभाषा दीजिये। सहयोगात्मक प्रक्रिया के लक्षण बताये।
11. सहयोग के प्रमुख प्रकार बताइये।
12. प्रतिस्पर्धा को परिभाषित करते हुए प्रतिस्पर्धा के कार्य बताइये।
13. प्रतिस्पर्धा के प्रमुख प्रकारों का उल्लेख कीजिये।
14. संघर्ष किसे कहते हैं? संघर्ष के स्वरूप एवं कार्यों का वर्णन कीजिये।

उत्तरमाला–1. (द) 2. (स) 3. (अ) 4. (अ) 5. (द) 6. (द) 7. (द) 8. (स) 9. (स)